बौद्ध-दर्शन

•

राहुल सांकृत्यायन

बौद्ध दर्शन

राहुल सांकृत्यायन

किताब - महल

इलाहाबाद

१९४४

प्रकाशक—किताब-महल
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
मूल्य २)

मुद्रक जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद

प्राक्-कथन

"बौद्ध दर्शन" मेरे ग्रंथ "दर्शन-दिग्दर्शन"का एक भाग है। तीसरे अध्यायको और विस्तृत रूपमें लिखनेकी आवश्यकता थी, मगर इस संस्करण-में वैसा करनेके लिए मेरे पास समय नहीं था, दूसरे संस्करणमें आशा है, मैं इस कमीको पूरा कर दूँगा। किन्तु, बुद्ध और धर्मकीर्त्तिके दर्शनको मैंने जितना विस्तार-पूर्वक दिया है, उससे बौद्ध दर्शन क्या है, इसे समझनेमें पाठकोंको कोई दिक़्क़त न होगी। और विकासोंकी भाँति दर्शनके विकासको भी अलग-थलग रखकर अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता, इसलिए बौद्ध दर्शनके विकासको जानने, तथा विश्व-दर्शनमें उसके महत्त्वको समझनेके लिए पौरस्त्य और पाश्चात्य सभी प्राचीन-अर्वाचीन दर्शनोंका जानना ज़रूरी है; जिसके लिए "दर्शन-दिग्दर्शन"को पढ़नेकी ज़रूरत होगी।

प्रयाग
८-१२-१९४३

राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

चतुर्थ अध्याय

बौद्ध दर्शनका चरम विकास

बौद्ध दर्शन

प्रथम अध्याय

गौतम बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)

दो सदियों तकके भारतीय दार्शनिक दिमागोंके जबर्दस्त प्रयासका अन्तिम फल हमें बुद्धके दर्शन—क्षणिक अनात्मवाद—के रूपमें मिलता है। आगे हम देखेंगे कि भारतीय दर्शनधाराओंमे जिसने काफी समय तक नई गवेषणाओंको जारी रहने दिया, वह यही धारा थी।—नागार्जुन, असंग, वसुबंधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति—भारतके अप्रतिम दार्शनिक इसी धारामें पैदा हुए थे। उन्हीके ही उच्छिष्ट-भोजी पीछेके प्रायः सारे ही दूसरे भारतीय दार्शनिक दिखलाई पड़ते हैं।

१. जीवनी

सिद्धार्थ गौतमका जन्म ५६३ ई० पू०के आसपास हुआ था। उनके पिता शुद्धोदनको शाक्योंका राजा कहा जाता है, किन्तु हम जानते हैं कि शुद्धोदनके साथ-साथ भद्दिय[1] और दण्डपाणि[2]को भी शाक्योंका राजा कहा गया; जिससे यही अर्थ निकलता है कि शाक्योंके प्रजातंत्रकी **गण-संस्था** (=सीनेट या पार्लमेंट)के सदस्योंको लिच्छविगणकी भाँति राजा कहा जाता था। सिद्धार्थकी माँ मायादेवी अपने मैके जा रही थीं,

[1] चुल्लवग्ग (विनय-पिटक) ७, ("बुद्धचर्या", पृ० ६०)

[2] मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा, १।२।८

उसी वक्त कपिलवस्तुसे कुछ मीलपर लुम्बिनी[1] नामक शालवनमें सिद्धार्थ पैदा हुए। उनके जन्मसे ३१८ वर्ष बाद तथा अपने राज्याभिषेकके बीसवें साल अशोकने इसी स्थानपर एक पाषाण स्तम्भ गाड़ा था, जो अब भी वहाँ मौजूद है। सिद्धार्थके जन्मके सप्ताह बाद ही उनकी माँ मर गई, और उनके पालन-पोषणका भार उनकी मौसी तथा सौतेली माँ प्रजापती गौतमीके ऊपर पड़ा। तरुण सिद्धार्थको संसारसे कुछ विरक्त तथा अधिक विचार-मग्न देख, शुद्धोदनको डर लगा कि कहीं उनका लड़का भी साधुओंके बहकावेमें आकर घर न छोड़ जाये; इसके लिए उसने पड़ोसी कोलिय गण (=प्रजातंत्र)की सुन्दरी कन्या भद्रा कापिलायनी (या यशोधरा)से विवाह कर दिया। सिद्धार्थ कुछ दिन और ठहर गये, और इस बीचमें उन्हें एक पुत्र पैदा हुआ, जिसे अपने उठते विचार-चंद्रके ग्रसनेके लिए राहु समझ उन्होंने राहुल नाम दिया। वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित (=संन्यासी)के चार दृश्योंको देख उनकी संसारसे विरक्ति पक्की हो गई, और एक रात चुपकेसे वह घरसे निकल भागे। इसके बारेमें बुद्धने स्वयं चुनार (=सुसुमारगिरि)में वत्सराज उदयनके पुत्र बोधि राजकुमारसे कहा था—[2]

"राजकुमार! बुद्ध होनेसे पहिले....मुझे भी होता था—'सुखमें सुख नहीं प्राप्त हो सकता, दुःखमें सुख प्राप्त हो सकता है।' इसलिए....मैं तरुण बहुत काले केशोंवाला ही, सुन्दर यौवनके साथ, प्रथम वयसमें माता-पिताको अश्रुमुख छोड़ घरसे....प्रव्रजित हुआ। ....(पहिले) आलार कालाम(के पास)....गया।...."

आलार कालामने कुछ योगकी विधियाँ बतलाईं, किन्तु सिद्धार्थकी जिज्ञासा उससे पूरी नहीं हुई। वहाँसे चलकर वह उद्दक रामपुत्त (=उद्रक रामपुत्र)के पास गये, वहाँ भी योगकी कुछ बात सीख सके; किन्तु उससे भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। फिर उन्होंने बोधगयाके पास प्रायः छै

---

[1] वर्तमान रुम्मिनदेई, नेपाल-तराई (नौतनवा-स्टेशनसे ८ मील पश्चिम)। [2] मज्झिम-निकाय, २।४।५ (अनुवाद, पृ० ३४५)

वर्षों तक योग और अनशनकी भीषण तपस्या की। इस तपस्याके बारे-में वह खुद कहते हैं[१]—

"मेरा शरीर (दुर्बलता)की चरमसीमा तक पहुँच गया था। जैसे ....आसीतिक (अस्सी सालवाले)की गाँठें....वैसे ही मेरे अंग प्रत्यंग हो गए थे।....जैसे ऊँटका पैर वैसे ही मेरा कूल्हा हो गया था। जैसे....सूओंकी (ऊँची-नीची) पाँती वैसे ही पीठके काँटे हो गये थे। जैसे शालकी पुरानी कड़ियाँ टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं, वैसी ही मेरी पँसुलियाँ हो गई थीं। ....जैसे गहरे कूएंमें तारा, वैसे ही मेरी आँखें दिखाई देती थीं।......जैसे कच्ची तोड़ी कड़वी लौकी हवा-धूपसे चुचक जाती है, मुर्झा जाती है, वैसे ही मेरे शिरकी खाल चुचक मुर्झा गई थी।....उस अनशनसे मेरे पीठके काँटे और पेटकी खाल बिलकुल सट गई थी।....यदि मैं पाखाना या पेशाब करनेके लिए (उठता) तो वहीं भहराकर गिर पड़ता। जब मैं कायाको सहराते हुए, हाथसे गात्रको मसलता, तो....कायासे सड़ी जड़वाले रोम झड़ पड़ते।...मनुष्य... कहते—'श्रमण गौतम काला है' कोई....कहते—'....काला नहीं स्याम'।....कोई....कहते—'....मंगुरवर्ण है'। मेरा वैसा परिशुद्ध, गोरा (=परि-अवदात) चमड़ेका रंग नष्ट हो गया था।....

"....लेकिन....मैंने इस (तपस्या)....से उस चरम... दर्शन....को न पाया। (तब विचार हुआ) बोधि(=ज्ञान)के लिए क्या कोई दूसरा मार्ग है? ....तब मुझे हुआ—'....मैंने पिता (=शुद्धोदन) शाक्यके खेतपर जामुनकी ठंडी छायाके नीचे बैठ.... प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहार किया था, शायद वह मार्ग बोधिका हो।....(किन्तु) इस प्रकारकी अत्यन्त कृश पतली कायासे वह (ध्यान-)सुख मिलना सुकर नहीं है।....फिर मैं स्थूल आहार—दाल-भात—ग्रहण करने लगा।....उस समय मेरे पास पाँच भिक्षु

---

[१] वही, पृ० ३४८

रहा करते थे।....जब मैं स्थूल आहार....ग्रहण करने लगा। तो वह पाँचों भिक्षु....उदासीन हो चले गये।..."

आगेकी जीवनयात्राके बारेमें बुद्ध अन्यत्र कहते हैं[1]—

"मैंने एक रमणीय भूभागमें, वनखंडमें एक नदी (=निरंजना)को बहते देखा। उसका घाट रमणीय और श्वेत था। यही ध्यान-योग्य स्थान है, (सोच) वहाँ बैठ गया। (और)....जन्मनेके दुष्परिणामको जान....अनुपम निर्वाणको पा लिया....मेरा ज्ञान दर्शन(=साक्षात्कार) बन गया, मेरे चित्तकी मुक्ति अचल हो गई, यह अन्तिम जन्म है, फिर अब (दूसरा) जन्म नहीं (होगा)।"

सिद्धार्थका यह ज्ञान दर्शन था—दुःख है, दुःखका हेतु (=समुदय), दुःखका निरोध-(=विनाश) है और दुःख-निरोधका मार्ग। 'जो धर्म (=वस्तुएँ घटनाएँ) हैं, वह हेतुसे उत्पन्न होते हैं। उनके हेतुको, बुद्धने कहा। और उनका जो निरोध है (उसे भी), ऐसा मत रखनेवाला महा श्रमण।'[2]

सिद्धार्थने उनतीस सालकी आयु (५३४ ई० पू०)मे घर छोड़ा। छै वर्ष तक योग-तपस्या करनेके बाद ध्यान और चिन्तन द्वारा ३६ वर्षकी आयु (५२८ ई० पू०)मे बोधि(=ज्ञान) प्राप्त कर वह बुद्ध हुए। फिर ४५ वर्ष तक उन्होंने अपने धर्म (=दर्शन)का उपदेश कर ८२ वर्षकी उम्रमें ४८३ ई० पू०मे कुसीनारा[3]मे निर्वाण प्राप्त किया।

२. साधारण विचार

बुद्ध होनेके बाद उन्होंने सबसे पहिले अपने ज्ञानका अधिकारी उन्हीं पाँचों भिक्षुओंको समझा, जो कि अनशन त्यागनेके कारण पतित समझ

[1] म० नि०, १।३।६ (अनुवाद, पृ० १०५)

[2] "ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः।"

[3] कसया, जिला गोरखपुर।

उन्हे छोड़ गये थे। पता लगाकर वह उनके आश्रम ऋषि-पतन मृगदाव (सारनाथ, बनारस) पहुँचे। बुद्धका पहिला उपदेश उसी शंकाको हटानेके लिए था, जिसके कारण कि अनशन तोड आहार आरम्भ करनेवाले गौतम-को वह छोड़ आये थे। बुद्धने कहा[1]—

"भिक्षुओ! इन दो अनियों (=चरम-पंथों)को....नहीं सेवन करना चाहिए।—(१)....काम-सुखमें लिप्त होना;....(२)....शरीर पीडामें लगना।—इन दोनों अनियोंको छोड़....(मैं)ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, (जो कि) आँख देनेवाला, ज्ञान करानेवाला....शान्ति (देने)वाला है।....वह (मध्यम-मार्ग) यही आर्य (=श्रेष्ठ) अष्टांगिक(=आठ अगोंवाला) मार्ग है, जैसे कि—ठीक दृष्टि (=दर्शन), ठीक संकल्प, ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक जीविका, ठीक प्रयत्न, ठीक स्मृति और ठीक समाधि।...."

(१) चार आर्य-सत्य—

दुःख, दुःख-समुदय (=हेतु), दुःख निरोध, दुःखनिरोधगामी मार्ग—जिनका जिक्र अभी हम कर चुके हैं, इन्हें बुद्धने **आर्य-सत्य**—श्रेष्ठ सच्चाइयाँ—कहा है।

क. दुःख-सत्य की व्याख्या करते हुए बुद्धने कहा है—"जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, मरण....शोक-रुदन—मनकी खिन्नता—हैरानगी• दुःख हैं। अ-प्रियसे संयोग, प्रियसे वियोग भी दुःख है, इच्छा करके जिसे नही पाता वह भी दुःख है। संक्षेपमें पाँचों **उपादान स्कन्ध** दुःख है।"[2]

(पाँच उपादान स्कंध)—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—यही पाँचों उपादान स्कंध हैं।

[1] धम्मचक्कप्पवत्तन-सूत्र"—संयुत-निकाय ५५।२।१ ("बुद्धचर्या", पृ० २३) [2] महासतिपट्ठान-सुत्त (दीघ-निकाय, २।६)

(a) **रूप**—चारों महाभूत—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, यह रूप-उपादान स्कंध हैं।

(b) **वेदना**—हम वस्तुओं या उनके विचारके सम्पर्कमें आनेपर जो सुख, दुख, या न सुख-दुखके रूपमें अनुभव करते है, इसे ही वेदना स्कंध कहते हैं।

(c) **संज्ञा**—वेदनाके बाद हमारे मस्तिष्कपर पहिलेसे ही अंकित संस्कारों द्वारा जो हम पहिचानते है—'यह वही देवदत्त है', इसे संज्ञा कहते है।

(d) **संस्कार**—रूपोंकी वेदनाओं और संज्ञाओंका जो संस्कार मस्तिष्क पर पड़ा रहता है, और जिसकी सहायतासे कि हमने पहिचाना—'यह वही देवदत्त है', इसे संस्कार कहते हैं।

(e) **विज्ञान**—चेतना या मनको विज्ञान कहते हैं।

ये पाँचों स्कंध जब व्यक्तिकी तृष्णाके विषय होकर पास आते हैं, तो इन्हें ही उपादान स्कंध कहते हैं। बुद्धने इन पाँचों उपादान-स्कंधोंको दुःख-रूप कहा है।

ख. दुःख हेतु—दुःखका हेतु क्या है? तृष्णा—काम (भोग) की तृष्णा, भवकी तृष्णा, विभवकी तृष्णा। इन्द्रियोंके जितने प्रिय विषय या काम है, उन विषयोंके साथ संपर्क, उनका ख्याल, तृष्णाको पैदा करता है। "काम (=प्रिय भोग)के लिए ही राजा भी राजाओंसे लड़ते है, क्षत्रिय भी क्षत्रियोंसे, ब्राह्मण भी ब्राह्मणोंसे, गृहपति (=वैश्य) भी गृहपतिसे, माता भी पुत्रसे, पुत्र भी मातासे, पिता पुत्रसे, पुत्र पितासे, भाई भाईसे, बहिन भाईसे, भाई बहिनसे, मित्र मित्रसे लड़ते हैं। वह आपसमें कलह-विग्रह-विवाद करते एक दूसरेपर हाथसे भी, दंडसे भी, शस्त्रसे भी आक्रमण करते हैं। वह (इससे) मर भी जाते हैं, मरण-समान दुःखको प्राप्त होते हैं।"[1]

ग. दुःख-विनाश—उसी तृष्णाके अत्यन्त निरोध, परित्याग

[1] मज्झिम-निकाय, १।२।३

विनाशको दुःख-निरोध कहते हैं। प्रिय विषयों और तद्विषयक विचारों-विकल्पोंसे जब तृष्णा छूट जाती है, तभी तृष्णाका निरोध होता है।

तृष्णाके नाश होनेपर **उपादान** (=विषयोंके संग्रह करने)का निरोध होता है। उपादानके निरोधमे भव (=लोक)का निरोध होता है, भव निरोधसे जन्म (=पुनर्जन्म)का निरोध होता है। जन्मके निरोधसे बुढ़ापा, मरण, शोक, रोना, दुःख, मनकी खिन्नता, हैरानगी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार दुःखोंका निरोध होता है।

यही दुःखनिरोध बुद्धके सारे दर्शनका केन्द्र-विन्दु है।

घ. दुःख-विनाशका मार्ग—दुःख निरोधकी ओर ले जानेवाला मार्ग क्या है?—**आर्य अष्टांगिक मार्ग** जिन्हें पहिले गिना आए हैं। आर्य-अष्टांगिक मार्गकी आठ बातोंको ज्ञान (=प्रज्ञा), सदाचार (=शील) और योग (=समाधि) इन तीन भागों (=स्कंधोंमें) बाँटनेपर वह होते हैं—

(क) ज्ञान	ठीक दृष्टि ठीक संकल्प
(ख) शील	ठीक वचन ठीक कर्म ठीक जीविका
(ग) समाधि	ठीक प्रयत्न ठीक स्मृति ठीक समाधि

(क) ठीक ज्ञान—

(a) **ठीक (=सम्यग्) दृष्टि**—कायिक, वाचिक, मानसिक, भले-बुरे कर्मोंके ठीक-ठीक ज्ञानको ठीक दृष्टि कहते हैं। भले-बुरे कर्म इस प्रकार हैं—

	बुरे कर्म	भले कर्म
कायिक	१. हिंसा	अ-हिंसा
	२. चोरी	अ-चोरी
	३. (यौन) व्यभिचार	अ-व्यभिचार

	४. मिथ्याभाषण	अ-मिथ्याभाषण
वाचिक	५. चुगली	न-चुगली
	६. कटुभाषण	अ-कटुभाषण
	७. बकवास	न-बकवास
	८. लोभ	अ-लोभ
मानसिक	९ प्रतिहिंसा	अ-प्रतिहिंसा
	१० झूठी धारणा	न-झूठी धारणा

दुःख, हेतु, निरोध, मार्गका ठीकसे ज्ञान ही ठीक दृष्टि (=दर्शन) कही जाती है।

(b) **ठीक संकल्प**—राग-, हिंसा-, प्रतिहिंसा-,रहित संकल्पको ही ठीक संकल्प कहते हैं।

(ख) ठीक आचार—

(a) **ठीक वचन**—झूठ, चुगली, कटुभाषण और बकवाससे रहित सच्ची मीठी बातोंका बोलना।

(b) **ठीक कर्म**—हिंसा-चोरी-व्यभिचार-रहित कर्म ही ठीक कर्म है।

(c) **ठीक जीविका**—झूठी जीविका छोड़ सच्ची जीविकासे शरीर-यात्रा चलाना। उस समयके शासक-शोषक समाजद्वारा अनुमोदित सभी जीविकाओंमें सिर्फ प्राणि-हिंसा संबंधी निम्न जीविकाओंको ही बुद्धने झूठी जीविका कहा[1]—

"हथियारका व्यापार; प्राणिका व्यापार, मांसका व्यापार, मद्यका व्यापार, विषका व्यापार।"

(ग) ठीक समाधि—

(a) **ठीक प्रयत्न (=व्यायाम)**—इन्द्रियोंपर संयम, बुरी भावनाओंको रोकने तथा अच्छी भावनाओंके उत्पादनका प्रयत्न, उत्पन्न अच्छी

---

[1] अंगुत्तर-निकाय ५

भावनाओंको कायम रखनेका प्रयत्न—ये ठीक प्रयत्न हैं।

(b) **ठीक स्मृति**—काया, वेदना, चित्त और मनके धर्मोंकी ठीक स्थितियों—उनके मलिन, क्षण-विध्वंसी आदि होने—का सदा स्मरण रखना।

(c) **ठीक समाधि**—"चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं"।[1] ठीक समाधि वह है जिससे मनके विक्षेपोंको हटाया जा सके। बुद्धकी शिक्षाओंको अत्यन्त संक्षेपमें एक पुरानी गाथामें इस तरह कहा गया है—

"सारी बुराइयोंका न करना, और अच्छाइयोंका संपादन करना; अपने चित्तका संयम करना, यह बुद्धकी शिक्षा है।"

अपनी शिक्षाका क्या मुख्य प्रयोजन है, उसे बुद्धने इस तरह बतलाया है[2]—

"भिक्षुओ! यह ब्रह्मचर्य (=भिक्षुका जीवन) न लाभ-सत्कार-प्रशंसाके लिए है, न शील (=सदाचार)की प्राप्तिके लिए, न समाधि प्राप्तिके लिए, न **ज्ञान**=दर्शनके लिए है। जो न अटूट चित्तकी मुक्ति है, उसीके लिए....यह ब्रह्मचर्य है, यही सार है, यही उसका अन्त है।

बुद्धके दार्शनिक विचारोंको देनेसे पूर्व उनके जीवनके बाकी अंशको समाप्त कर देना जरूरी है।

सारनाथमें अपने धर्मका प्रथम उपदेश कर, वहीं वर्षा बिता, वर्षाके अन्तमें स्थान छोड़ते हुए प्रथम चार मासोंमें हुए अपने साठ शिष्योंको उन्होंने इस तरह संबोधित किया—[3]

"भिक्षुओ! बहुत जनोंके हितके लिए, बहुत जनोंके सुखके लिए, लोकपर दया करनेके लिए देव-मनुष्योंके प्रयोजन-हित-सुखके लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ।....मैं भी....उरुवेला....सेनानी-ग्राममें....धर्म-उपदेशके लिए जा रहा हूँ।"

[1] म० नि०, १।५।४ [2] म० नि०, १।३।६

[3] संयुत्त-नि०, ४।१।४

इसके बाद ४४ वर्ष बुद्ध जीवित रहे। इन ४४ वर्षोंके बरसातके तीन मासोंको छोड़ वह बराबर विचरते जहाँ-तहाँ ठहरते लोगोंको अपने धर्म और दर्शनका उपदेश करते रहे।[१] बुद्धने बुद्धत्व प्राप्तिके बादकी ४४ बरसातोंको निम्न स्थानोंपर बिताया था—

स्थान	ई०पू०	स्थान	ई०पू०
(लुंबिनी जन्म	५६३)	बीच)	५१७
(बोधगया बुद्धत्व में	५२८)	१३. चालिय पर्वत (विहार)	५१६
१. ऋषिपतन (सारनाथ)	५२८	१४. श्रावस्ती (गोंडा)	५१५
२-४. राजगृह	५२७-२५	१५. कपिलवस्तु	५१४
५. वैशाली	५२४	१६ आलवी (अरवल	५१३
६. मंकुल पर्वत (विहार)	५२३	१७. राजगृह	५१२
७. .. (त्रयस्त्रिंश ?)	५२२	१८. चालिय पर्वत	५११
८. सुंसुमारगिरि(=चुनार)	५२१	१९. चालिय पर्वत	५१०
९. कौशाम्बी (इलाहाबाद)	५२०	२०. राजगृह	५०९
१०. पारिलेयक (मिर्जापुर)	५१९	२१-४५. श्रावस्ती	५०८-४८४
११. नाला (विहार)	५१८	४६. वैशाली	४८३
१२. वैरंजा (कन्नौज-मथुराके		(कुसीनारामें निर्वाण ४८३)	

उनके विचरणका स्थान प्रायः सारे युक्त प्रान्त और सारे विहार तक सीमित था। इससे बाहर वह कभी नहीं गये।

(२) जनतंत्रवाद—

हम देख चुके हैं, कि जहाँ बुद्ध एक ओर अत्यन्त भोग-मय जीवनके विरुद्ध थे, वहाँ दूसरी ओर वह शरीर सुखानेको भी मूर्खता समझते थे। कर्मकांड, भक्तिकी अपेक्षा उनका झुकाव ज्ञान और बुद्धिवादकी ओर

[१] बुद्धके जीवन और मुख्य-मुख्य उपदे[redacted] सामग्रीके आधारपर मैंने "बुद्धचर्या"में संगृहीत किय[redacted]

ज्यादा था। उनके दर्शनकी विशेषताको हम अभी कहनेवाले हैं। इन सारी बातोंके कारण अपने जीवनमें और बादमें भी बुद्ध प्रतिभाशाली व्यक्तियोंको आकर्षित करनेमें समर्थ हुए। मगधके सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप ही नहीं, सुदूर उज्जैनके राजपुरोहित महाकात्यायन जैसे विद्वान् ब्राह्मण उनके शिष्य बने जिन्होंने ब्राह्मणोंके धर्म और स्वार्थके विरोधी बौद्धधर्मके प्रति ब्राह्मणोंमें कटुता फैलने—खासकर प्रारंभिक सदियोंमें—से रोका। मगधका राजा बिंबिसार बुद्धका अनुयायी था। कोसलके राजा प्रसेनजित् को इसका बहुत अभिमान था कि बुद्ध भी कोसल क्षत्रिय हैं और वह भी कोसल क्षत्रिय। उसने बुद्धका और नजदीकी बननेके लिए शाक्यवंशकी कन्याके साथ ब्याह किया था। शाक्य, मल्ल, लिच्छवि-प्रजातंत्रोंमें उनके अनुयायियोंकी भारी संख्या थी। बुद्धका जन्म एक प्रजातंत्र (शाक्य)में हुआ था, और मृत्यु भी एक प्रजातंत्र (मल्ल) हीमें हुई। प्रजातंत्र-प्रणाली उनको कितनी प्रिय थी, यह इसीसे मालूम है, कि अजातशत्रुके साथ अच्छा संबंध होनेपर भी उन्होंने उसके विरोधी वैशालीके लिच्छवियोंकी प्रशंसा करते हुए राष्ट्रके अपराजित रखनेवाली निम्न सात बातें बतलाई[1]—

(१) बराबर एकत्रित हो सामूहिक निर्णय करना; (२) (निर्णयके अनुसार) कर्त्तव्यको एक हो करना; (३) व्यवस्था (=कानून और विनय)का पालन करना; (४) वृद्धोंका सत्कार करना; (५) स्त्रियोंपर जबर्दस्ती नहीं करना; (६) जातीय धर्मका पालन करना; (७) धर्माचार्योंका सत्कार करना।

इन सात बातोंमें सामूहिक निर्णय, सामूहिक कर्त्तव्य-पालन, स्त्री-स्वातंत्र्य प्रगतिके अनुकूल विचार थे; किन्तु बाकी बातोंपर ज़ोर देना यही बतलाता है, कि वह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थामें हस्तक्षेप नहीं करना

[1] देखो, महापरिनिब्बाण-सुत्त (दी० नि०, २।३), "बुद्धचर्या", पृष्ठ ५२०-२२

चाहते थे। वैयक्तिक तृष्णाके दुष्परिणामको उन्होंने देखा था। दुःखोंका कारण यही तृष्णा है। दुःखोंका चित्रण करते हुए उन्होंने कहा था[1]—

"चिरकालसे तुमने . . . माता-पिता-पुत्र-दुहिताके मरणको सहा, . . . भोग-रोगकी आफतोंको सहा, प्रियके वियोग, अप्रियके संयोगसे रोते, क्रन्दन करते जितना आँसू तुमने गिराया, वह चारों समुद्रोंके जलसे भी ज्यादा है।"

यहाँ उन्होंने दुःख और उसकी जडको समाजमें न ख्याल कर व्यक्तिमें देखनेकी कोशिश की। भोगकी तृष्णाके लिए राजाओं, क्षत्रियों, ब्राह्मणों, वैश्यों, सारी दुनियाको झगडते मरते-मारते देख भी उस तृष्णाको व्यक्तिसे हटानेकी कोशिश की। उनके मतानुसार मानो, काँटोंसे बँचनेके लिए सारी पृथिवीको तो नहीं ढाँका जा सकता है, हाँ, अपने पैरोंको चमड़ेसे ढाँक कर काँटोंसे बचा जा सकता है। वह समय भी ऐसा नहीं था, कि बुद्ध जैसे प्रयोगवादी दार्शनिक, सामाजिक पापोंको सामाजिक चिकित्सासे दूर करनेकी कोशिश करते। तो भी वैयक्तिक सम्पत्तिकी बुराइयोंको वह जानते थे, इसीलिए जहाँ तक उनके अपने भिक्षु-संघका संबंध था, उन्होंने उसे हटाकर भोगमें पूर्ण साम्यवाद स्थापित करना चाहा।

(३) दुःख-विनाश-मार्गकी त्रुटियाँ—

बुद्धका दर्शन घोर क्षणिकवादी है, किसी वस्तुको वह एक क्षणसे अधिक ठहरनेवाली नहीं मानते, किन्तु इस दृष्टिको उन्होंने समाजकी आर्थिक व्यवस्थापर लागू नहीं करना चाहा। सम्पत्तिशाली, शासक-शोषक-समाजके साथ इस प्रकार शान्ति स्थापित कर लेनेपर उनके जैसे प्रतिभाशाली दार्शनिकका ऊपरके तबकेमें सम्मान बढ़ना लाजिमी था। पुरोहित-वर्गके कूटदंत, सोणदंड जैसे धनी प्रभुताशाली ब्राह्मण उनके अनुयायी बनते थे, राजा लोग उनकी आवभगतके लिए उतावले दिखाई पड़ते थे। उस वक्तका धनकुवेर व्यापारी-वर्ग तो उससे भी

---

[1] सं० नि०, १४

ज्यादा उनके सत्कारके लिए अपनी थैलियाँ खोले रहता था, जितने कि आजके भारतीय महासेठ गाँधीके लिए। श्रावस्तीके धनकुबेर सुदत्त (अनाथपिंडक)ने सिक्केसे ढाँक एक भारी बाग (जेतवन) खरीदकर बुद्ध और उनके भिक्षुओंके रहनेके लिए दिया। उसी शहरकी दूसरी सेठानी विशाखाने भारी व्ययके साथ एक दूसरा विहार (=मठ) पूर्वाराम बनवाया था। दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम भारतके साथ व्यापारके महान केन्द्र कौशाम्बीके तीन भारी सेठोंने तो विहार बनवानेमें होड़सी कर ली थी। सच तो यह है, कि बुद्धके धर्मको फैलानेमें राजाओंसे भी अधिक व्यापारियोंने सहायता की। यदि बुद्ध तत्कालीन आर्थिक व्यवस्थाके खिलाफ जाते तो यह सुभीता कहाँसे हो सकता था?

३. दार्शनिक विचार

"अनित्य, दुःख, अनात्म[१]" इस एक सूत्रमें बुद्धका सारा दर्शन आ जाता है। इनमें दुःखके बारेमें हम कह चुके हैं।

(१) **क्षणिकवाद**—बुद्धने तत्वोंका विभाजन तीन प्रकारसे किया है—(१) स्कन्ध, (२) आयतन, (३) धातु।

स्कन्ध पाँच हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान। रूपमें पृथिवी आदि चारों महाभूत शामिल हैं। विज्ञान चेतना या मन है। वेदना सुख-दुःख आदिका जो अनुभव होता है उसे कहते हैं। संज्ञा होश या अभिज्ञानको कहते हैं। संस्कार मनपर बच रही छाप या वासनाको कहते हैं। इस प्रकार वेदना, संज्ञा, संस्कार—रूपके संपर्कमें विज्ञान (=मन)की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं।[२] बुद्धने इन स्कंधोंको "अ-नित्य=संस्कृत (=कृत)=

[१]अंगुत्तर-निकाय, ३।१।३४

[२]महावेदल्ल-सुत्त (म० नि०, १।५।३)—"संज्ञा....वेदना....विज्ञान....यह तीनों धर्म (=पदार्थ) मिलेजुले हैं, बिलग नहीं....बिलग करके इनका भेद नहीं जतलाया जा सकता।

प्रतीत्य समुत्पन्न=क्षय धर्मवाला=व्यय धर्मवाला=....निरोध (=विनाश) धर्मवाला"[1] कहा है।

आयतन बारह हैं—छै इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया या चमड़ा और मन) और छै उनके विषय—रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य, और धर्म (=वेदना, संज्ञा संस्कार)।

धातु अठारह हैं—उपरोक्त छै इन्द्रियाँ तथा उनके छै विषय; और इन इन्द्रियों तथा विषयोंके संपर्कमें होनेवाले छै विज्ञान (=चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और मन-विज्ञान)।

विश्वकी सारी वस्तुएं स्कन्ध, आयतन, धातु तीनोंमेंसे किसी एक प्रक्रियामें बाँटी जा सकती हैं। इन्हें ही नाम और रूपमें भी विभक्त किया जाता है, जिनमें नाम विज्ञानका पर्यायवाची है। यह सभी अनित्य हैं—[2]

"यह अटल नियम है—....रूप (महाभूत) वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान (ये) सारे संस्कार (=कृत वस्तुए) अनित्य हैं।"

"रूप....वेदना....संज्ञा....संस्कार....विज्ञान (ये पाँचों स्कंध) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अविकारी नहीं हैं यह लोकमें पंडितसम्मत (बात) है। मैं भी (वैसा) ही कहता हूँ। ऐसा कहने....समझाने ....पर भी जो नहीं समझता नहीं देखता, उस....बालक (=मूर्ख) ....अन्धे, बेआँख, अजान....के लिए मैं क्या कर सकता हूँ।[3]

रूप (भौतिक पदार्थ)की क्षणिकताको तो आसानीसे समझा जा सकता है। विज्ञान (=मन) उससे भी क्षणभंगुर है, इसे दर्शाते हुए बुद्ध कहते हैं—

"भिक्षुओ! यह बल्कि बेहतर है, कि अजान....(पुरुष) इस चार महाभूतोंकी कायाको ही **आत्मा** (=नित्य तत्व) मान लें, किन्तु

[1] **महानिदान-सुत्त (दी० नि०, २।१५; "बुद्धचर्या", १३३)**

[2] **अंगुत्तर-निकाय, ३।१।३४**

[3] **संयुत्त-नि०, १६**

चित्तको (वैसा मानना ठीक) नहीं। सो क्यों ..?...चारों महाभूतोंकी यह काया एक....दो....तीन....चार....पाँच....छै.... सात वर्ष तक भी मौजूद देखी जाती है; किन्तु जिसे 'चित्त', 'मन' या 'विज्ञान' कहा जाता है, वह रात और दिनमें भी (पहिलेसे) दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है।"[1]

बुद्धके दर्शनमें अनित्यता एक ऐसा नियम है, जिसका कोई अपवाद नहीं है।

बुद्धका अनित्यवाद भी "दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है" के कहे अनुसार किसी एक मौलिक तत्वका बाहरी परिवर्तनमात्र नहीं, बल्कि एकका बिलकुल नाश और दूसरेका बिलकुल नया उत्पाद है।—बुद्ध कार्य-कारणकी निरन्तर या अविच्छिन्न सन्ततिको नहीं मानते।

(२) प्रतीत्य-समुत्पाद—यद्यपि कार्य-कारणको बुद्ध अविच्छिन्न सन्तति नहीं मानते, तो भी वह यह मानते हैं कि "इसके होनेपर यह होता है"[2] (एकके विनाशके बाद दूसरेकी उत्पत्ति इसी नियमको बुद्धने **प्रतीत्य-समुत्पाद** नाम दिया है)। हर एक उत्पादका कोई **प्रत्यय** है। प्रत्यय और हेतु (=कारण) समानार्थक शब्द मालूम होते हैं, किन्तु बुद्ध प्रत्ययसे वही अर्थ नहीं लेते, जो कि दूसरे दार्शनिकोंको हेतु या कारणसे अभिप्रेत है। 'प्रत्ययसे उत्पाद'का अर्थ है, बीतनेसे उत्पाद—यानी एकके बीत जाने, नष्ट हो जानेपर दूसरेकी उत्पत्ति। बुद्धका **प्रत्यय** ऐसा हेतु है, जो किसी वस्तु या घटनाके उत्पन्न होनेसे पहिले क्षण सदा लुप्त होते देखा जाता है। प्रतीत्य **समुत्पाद** कार्यकारण नियमको अविच्छिन्न नहीं **विच्छिन्न प्रवाह**[3] बतलाता है। **प्रतीत्य-समुत्पाद**के इसी विच्छिन्न प्रवाहको लेकर आगे नागार्जुनने अपने **शून्यवाद**को विकसित किया।

[1] संयुत्त-नि०, १२।७ [2] "अस्मिन् सति इदं भवति।" (म० नि०, १।४।८; अनुवाद, पृ० १५५)

[3] Discontinuous continuity.

प्रतीत्य-समुत्पाद बुद्धके सारे दर्शनका आधार है, उनके दर्शनके समझनेकी यह कुंजी है, यह खुद बुद्धके इस वचनसे मालूम होता है[१]--

"जो प्रतीत्य समुत्पादको देखता है, वह **धर्म** (=बुद्धके दर्शन) को देखता है; जो धर्मको देखता है, वह प्रतीत्य समुत्पादको देखता है। यह पाँच उपादान **स्कंध** (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) प्रतीत्य समुत्पन्न (=विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न) है।"

प्रतीत्य-समुत्पादके नियमको मानव व्यक्तिमें लगाते हुए, बुद्धने इसके बारह अंग (=द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पाद) बतलाये हैं। पुराने उपनिषद्के दार्शनिक तथा दूसरे कितने ही आचार्य नित्य ध्रुव, अविनाशी, तत्त्वको आत्मा कहते थे। बुद्धके **प्रतीत्य-समुत्पादमें आत्मा**के लिए कोई गुंजाइश न थी, इसीलिए आत्मवादको वह महा-अविद्या कहते थे। इस बातको उन्होंने अपने एक उपदेशमें[२] अच्छी तरह समझाया है--

"साति केवट्टपुत्त भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि (=धारणा) उत्पन्न हुई थी--मैं भगवान्‌के उपदिष्ट धर्मको इस प्रकार जानता हूँ, कि दूसरा नहीं बल्कि वही (एक) **विज्ञान** (=जीव) संसरण-संधावन (=आवागमन) करता रहता है।"

बुद्धने यह बात सुनी तो बुलाकर पूछा--

" 'क्या सचमुच साति! तुझे इस प्रकारकी बुरी धारणा हुई है?'

'हाँ, ... दूसरा नहीं वही विज्ञान (=जीव) संसरण-संधावन करता है।'

'साति! वह **विज्ञान** क्या है?'

'यह जो, भन्ते! वक्ता अनुभव करता है, जो कि वहाँ-वहाँ (जन्म लेकर) अच्छे बुरे कर्मोंके फलको अनुभव करता है।'

'निकम्मे (=मोघपुरुष)! तूने किसको मुझे ऐसा उपदेश करते

[१] **मज्झिम-नि०, १।३।८**

[२] **महातण्हा-संखय-सुत्तन्त, (म० नि०, १।४।८; अनुवाद, पृ० १५१-८)**

सुना ? मैंने तो मोघपुरुष ! **विज्ञान** (=जीव)को अनेक प्रकारसे **प्रतीत्य-समुत्पन्न** कहा है—**प्रत्यय** (=विगत) होनेके बिना **विज्ञान**का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता (बतलाया है) । मोघपुरुष ! तू अपनी ठीकसे न समझी बातका हमारे ऊपर लांछन लगाता है ।'. . . ."

फिर भिक्षुओंको संबोधित करते हुए कहा—

" 'भिक्षुओ ! जिस-जिस **प्रत्यय**में **विज्ञान** (=जीव) चेतना उत्पन्न होता है, वही उसकी संज्ञा होती है । चक्षुके निमित्तसे (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी चक्षुर्विज्ञान ही संज्ञा होती है । (इसी प्रकार) श्रोत्र-, घ्राण-, रस-, काया, मन-विज्ञान संज्ञा होती है । . . . .जैसे. . . .जिस-जिस निमित्त (=प्रत्यय)में आग जलती है, वही-वही उसकी संज्ञा होती है,. . . .काष्ट-अग्नि. . . .तृण-अग्नि. . . .तुष-अग्नि. . . .' "

". . . .'यह (पाँच स्कन्ध) उत्पन्न हैं—यह अच्छी प्रकार प्रज्ञासे देखनेपर (आत्माके होनेका) सन्देह नष्ट हो जाता है न ?'

'हाँ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! 'यह (पाँच स्कन्ध) उत्पन्न हैं'—इस (विषयमें) तुम सन्देह-रहित हो न ?'

'हाँ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! 'यह (पाँच स्कन्ध=भौतिक तत्व और मन) उत्पन्न है',. . . .'यह अपने आहारसे उत्पन्न है'. . . .'यह अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होनेवाला है'—यह ठीकसे अच्छी प्रकार जानना सुदृष्ट है न ?'

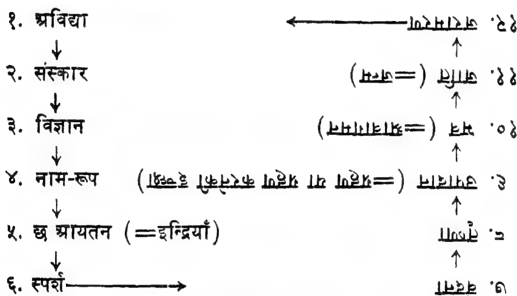
'हाँ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! तुम इस. . . .परिशुद्ध (सु-)दृष्ट (विचार)में भी आसक्त न होना, रमण न करना, 'मेरा धन है'—न समझना, न ममता करना । बल्कि भिक्षुओ ! मेरे उपदेश किए **धर्मको बेड़े (=कुल्ल)के समान समझना,** (यह) पार होनेके लिए है, पकड़ रखनेके लिए नहीं है ।'. . . ."

साति केवट्टपुत्तके मनमें जैसे 'आत्मा है' यह अविद्या छाई थी, उस अविद्याका कारण समझाते हुए बुद्धने कहा—

"सभी आहारोंका निदान (=कारण) है तृष्णा....उसका निदान वेदना...उसका निदान स्पर्श...उसका निदान छ आयतन (=पाँचों इन्द्रियाँ और मन)...उसका निदान नाम और रूप...उसका निदान विज्ञान....उसका निदान संस्कार....उसका निदान अविद्या।"

अविद्या फिर अपने चक्रको १२ अंगोंमें दुहराती है, इसे ही द्वादशांग प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं—

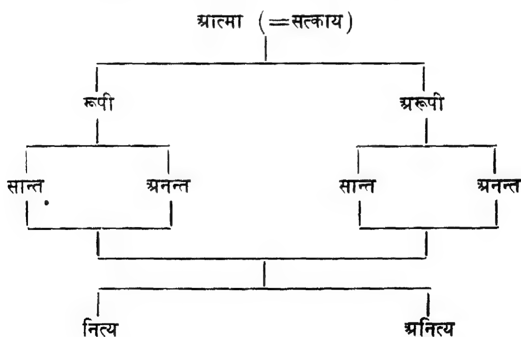


तृष्णाकी उत्पत्तिकी कथा कहते हुए बुद्धने वहीं कहा है—

" 'भिक्षुओ ! तीनके एकत्रित होनेसे गर्भधारण होता है।....(१) माता-पिता एकत्रित होते हैं, (२) माता ऋतुमती होती है, (३) गंधर्व उपस्थित होता है।....तब माता गर्भको....नौ या दस मासके बाद जनती है।....उसको....माता अपने लोहित....दूधसे पोसती है। तब वह बच्चा (कुछ) बड़ा होनेपर ....बच्चोंके खिलौने—बंका, घड़िया, मुँहके लट्टू, चिंगुलिया, तराजू, गाड़ी, धनुही—से खेलता है।....(और) बड़ा होनेपर....पाँच प्रकारके विषय-भोगों—(रूप, शब्द, रस, गंध, स्पर्श)—का सेवन करता है।....वह (उनकी अनुकूलता, प्रति-

कूलता आदिके अनुसार) अनुरोध (=राग), विरोधमें पड़ा सुखमय, दुःखमय, न सुख-न दुःखमय वेदनाको अनुभव करता है, उसका अभिनंदन करता है।....(इस प्रकार) अभिनंदन करते उसे नन्दी (=तृष्णा) उत्पन्न होती है।.....वेदनाओंके विषयमें जो यह नन्दी (=तृष्णा) है, (यही) उसका उपादान (=ग्रहण करना या ग्रहण करनेकी इच्छा) है।' "

(३) **अनात्मवाद**—बुद्धके पहिले उपनिषद्के ऋषियोंको हम आत्माके दर्शनका जबर्दस्त प्रचार करते देखते हैं। साथ ही उस समय चार्वाककी तरहके भौतिकवादी दार्शनिक भी थे, यह भी बतला चुके हैं। नित्यतावादियोंके आत्मा-संबंधी विचारोंको बुद्धने दो भागोंमें बाँटा है;[1] एक वह जिसमें आत्माको रूपी (इन्द्रिय-गोचर माना जाता है, दूसरेमें उसे अ-रूपी माना गया है)। फिर इन दोनों विचारवालोंमें कुछ आत्माको अनन्त मानते हैं, और कुछ सान्त (=परित्त या अणु)। फिर ये दोनों विचारवाले नित्यवादी और अनित्यवादी दो भागोंसे बँटे हैं—



[1] महानिदान-सुत्त, दी० नि०, २।१५ ("बुद्धचर्या, पृ० १३१, ३२)

आत्मवादके लिए बुद्धने एक दूसरा शब्द सत्काय-दृष्टि भी व्यवहृत किया है। सत्कायका अर्थ है, कायामें विद्यमान (=कायासे भिन्न अजर अमर तत्व)। अभी साति केवट्टपुत्तके विज्ञान (=जीव)के आवागमनकी बात करनेपर बुद्धने उसे कितना फटकारा और अपनी स्थितिको स्पष्ट किया यह बतला चुके हैं। सत्काय (=आत्मा) की धारणाको बुद्ध दर्शन-संबंधी एक भारी बन्धन (=दृष्टि-संयोजन) मानते थे, और सच्चे ज्ञानकी प्राप्तिके लिए उसके नष्ट होनेकी सबसे ज्यादा जरूरत समझते थे। बुद्धकी शिष्या पंडिता धम्मदिन्नाने अपने एक उपदेशमें[1] पाँच उपादान (=ग्रहण करनेकी इच्छासे युक्त)-स्कन्धोंको **सत्काय** बतलाया है, और आवागमनकी तृष्णाको सत्काय-दृष्टिका कारण।

बुद्ध अविद्या और तृष्णासे मनुष्यकी सारी प्रवृत्तियोंकी व्याख्या करते हैं। हम लिख आये हैं, कि कैसे जर्मन दार्शनिक शोपन्हारने बुद्धकी इसी सर्वशक्तिमती **तृष्णा**का बहुत व्यापक क्षेत्रमें प्रयोग किया।

लेकिन बुद्ध सत्काय-दृष्टि या आत्मवादकी धारणाको नैसर्गिक नहीं मानते थे, इसीलिए उन्होंने कहा है—[2]

"उतान (ही) सो सकनेवाले (दुधमुँहे) अबोध छोटे बच्चेको सत्काय (=आत्मवाद)का भी (पता) नहीं होता, फिर कहाँसे उसे **सत्काय-दृष्टि** उत्पन्न होगी ?"

—यहाँ मिलाइए भेड़ियेकी माँदसे निकाली गई लड़की कमलासे, जिसने चार वर्षमें ३० शब्द सीखे।[3]

उपनिषद्के इतने परिश्रमसे स्थापित किए आत्माके महान् सिद्धान्तको प्रतीत्यसमुत्पादवादी बुद्ध कितनी तुच्छ दृष्टिसे देखते थे ?—[4]

[1] **चूलवेदल्ल-सुत्त, (म० नि०, १।५।४; अनुवाद, पृ० १७६)**

[2] **महामालुंक्य-सुत्त, (म० नि०, २।२।४; अनुवाद, पृ० २५४)**

[3] **"वैज्ञानिक भौतिकवाद।" पृष्ठ १६७-८**

[4] **मज्झिम-नि०, १।१।२—"अयं भिक्खवे ! केवलो परिपूरो बाल-धम्मो।"**

" 'जो यह मेरा आत्मा अनुभव कर्ता, अनुभवका विषय है, और तहाँ-तहाँ (अपने) भले बुरे कर्मोंके विषयको अनुभव करता है; वह मेरा आत्मा नित्य=ध्रुव=शाश्वत=अपरिवर्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा'—यह भिक्षुओ! केवल भरपूर बाल-धर्म (=मूर्ख-विश्वास) है।"

अपने दर्शनमें **अनात्मा**से बुद्धको अभावात्मक वस्तु अभिप्रेत नहीं है। उपनिषद्में आत्माको ही नित्य, ध्रुव, वस्तु सत्य माना जाता था। बुद्धने उसे निम्न प्रकारसे उत्तर दिया—

(उपनिषद्)—आत्मा=नित्य, ध्रुवं=वस्तुसत्

(बुद्ध)—अन्-आत्मा=अ-नित्य, अ-ध्रुव=वस्तुसत्

इसीलिए वह एक जगह कहते हैं—

"रूप अनात्मा है; वेदना अनात्मा है, संज्ञा....संस्कार.... विज्ञान....सारे **धर्म** अनात्मा हैं।"[1]

बुद्धने प्रतीत्य-समुत्पादके जिस महान् और व्यापक सिद्धान्तका आविष्कार किया था, उसके व्यक्त करनेके लिए उस वक्त अभी भाषा भी तैयार नहीं हुई थी; इसलिए अपने विचारोंको प्रकट करनेके वास्ते जहाँ उन्हें प्रतीत्य-समुत्पाद, सत्काय जैसे कितने ही नये शब्द गढ़ने पड़े; वहाँ कितने ही पुराने शब्दोंको उन्होंने अपने नये अर्थोंमें प्रयुक्त किया। उपरोक्त उद्धरणमें **धर्म**को उन्होंने अपने खास अर्थमें प्रयुक्त किया है, जो कि आजके साइंसकी भाषामें वस्तुकी जगह प्रयुक्त होनेवाला **घटना** शब्दका पर्यायवाची है। 'ये धर्मा हेतु-प्रभवाः' (=जो धर्म हैं वह हेतुसे उत्पन्न हैं)—यहाँ भी धर्म विच्छिन्न-प्रवाह वाले विश्वके कण-तरंग अवयवको बतलाता है।

(४) अ-भौतिकवाद—आत्मवादके बुद्ध जबर्दस्त विरोधी थे सही; किन्तु, इससे यह अर्थ नहीं लेना चाहिए, कि वह भौतिक(=जड़)वादी थे। बुद्धके समय कोसलदेशकी सालविका नगरीमें लौहित्य नामक एक ब्राह्मण

[1] **चूलसच्चक-सुत्त, (म० नि०, १।४।५; अनु०, पृ० १३८)**

सामन्त रहता था। धर्मोंके बारेमें उसकी बहुत बुरी सम्मति थी[1]—

"संसारमें (कोई ऐसा) श्रमण (=संन्यासी) या ब्राह्मण नहीं है, जो अच्छे धर्मको....जानकर....दूसरेको समझावेगा। भला दूसरा दूसरेके लिए क्या करेगा? (नये नये धर्म क्या हैं), जैसे कि एक पुराने बंधनको काटकर एक दूसरे नये बंधनका डालना। इसी प्रकार मैं इसे पाप (=बुराई) और लोभकी बात समझता हूँ।"

बुद्धने अपने शील-समाधि-प्रज्ञा संबंधी उपदेश द्वारा उसे समझानेकी कोशिश की थी।

कोसलदेशमें ही एक दूसरा सामन्त—सेतव्याका स्वामी पायासी राजन्य था। उसका मत था[2]—

"यह भी नहीं है, परलोक भी नहीं है, जीव मरनेके बाद (फिर) नहीं पैदा होते, और अच्छे बुरे कर्मोंका कोई भी फल नहीं होता।"

पायासी क्यों परलोक और पुनर्जन्मको नहीं मानता था, इसके लिए उसकी तीन दलीलें थीं, जिन्हें कि बुद्धके शिष्य कुमार काश्यपके सामने उसने पेश की थीं—(१) किसी मरेने लौटकर नहीं कहा, कि दूसरा लोक है; (२) धर्मात्मा आस्तिक—जिन्हें स्वर्ग मिलना निश्चित है—भी मरनेसे अनिच्छुक होते हैं; (३) जीवके निकल जानेसे मृत शरीरका न वजन कम होता है; और सावधानीसे मारनेपर भी जीवको कहींसे निकलते नहीं देखा जाता।

बुद्ध समझते थे, कि भौतिकवाद उनके ब्रह्मचर्य और समाधिका भी वैसा ही विरोधी है, जैसा कि वह आत्मवादका विरोधी है। इसीलिए उन्होंने कहा[3]—

"'वही जीव है वही शरीर है', (दोनों एक हैं) ऐसा मत होनेपर

[1] दीघ-निकाय, १।१२ (अनुवाद, पृ० ८२)
[2] दीघ-नि०, २।१० (अनु०, पृ० १९९)
[3] अंगुत्तर-नि०, ३

ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता। 'जीव दूसरा है शरीर दूसरा है' ऐसा मत (=दृष्टि) होनेपर भी ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता।"

आदमी ब्रह्मचर्यवास (=साधुका जीवन) तब करता है, जब कि इस जीवनके बाद भी उसे फल पाने या काम पूरा करनेका अवसर मिलनेवाला हो। भौतिकवादीके वास्ते इसीलिए ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है। शरीर और जीवको भिन्न-भिन्न माननेवाले आत्मवादीके लिए भी ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है; क्योंकि नित्य-ध्रुव आत्मामें ब्रह्मचर्य द्वारा संशोधन संवर्द्धनकी गुंजाइश नहीं। इस तरह बुद्धने अपनेको अभौतिकवादी अनात्मवादीकी स्थितिमें रक्खा।

(५) **अनीश्वरवाद**—बुद्धके दर्शनका जो रूप—अनित्य, अनात्म, प्रतीत्य-समुत्पाद—हम देख चुके हैं, उसमें ईश्वर या ब्रह्मकी भी उसी तरह गुंजाइश नहीं है जैसे कि आत्माकी। यह सच है कि बुद्धने ईश्वर-वादपर उतनेही अधिक व्याख्यान नहीं दिये हैं, जितने कि अनात्मवाद-पर। इससे कुछ भारतीय—साधारण ही नहीं लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी ढंगके प्रोफेसर—भी यह कहते हैं, कि बुद्धने चुप रहकर इस तरहके बहुतसे उपनिषद्के सिद्धान्तोंकी पूर्ण स्वीकृति दे दी है।

ईश्वरका ख्याल जहाँ आता है, उससे विश्वके स्रष्टा, भर्ता, हर्त्ता एक नित्यचेतन व्यक्तिका अर्थ लिया जाता है। बुद्धके प्रतीत्य-समुत्पादमें ऐसे ईश्वरकी गुंजाइश तभी हो सकती है, जब कि सारे "धर्मों"की भाँति वह भी प्रतीत्य-समुत्पन्न हो। प्रतीत्य-समुत्पन्न होनेपर वह ईश्वर ही नहीं रहेगा। उपनिषद्में हम विश्वका एक कर्त्ता पाते हैं—

"प्रजापतिने प्रजाकी इच्छासे तप किया।....उसने तप करके जोड़े पैदा किये।"[1]

"ब्रह्मा....ने कामना की।....तप करके उसने इस सब (=विश्व) को पैदा किया।...."[2]

[1] प्रश्नोपनिषद्, १।३-१३ [2] तैत्तिरीय, २।६

"आत्मा ही पहिले अकेला था।...उसने चाहा—'लोकोंको सिरजूँ।' उसने इन लोकोंको सिरजा।"[1]

अब इस सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, आत्मा, ईश्वर, सत्....की बुद्ध क्या गति बनाते हैं, इसे सुन लीजिए। मल्लोंके एक प्रजातंत्रकी राजधानी अनूपिया[2]में बुद्ध भार्गव-गोत्र परिव्राजकसे इस बातपर वार्तालाप कर रहे हैं।[3]—

"भार्गव! जो श्रमण-ब्राह्मण, **ईश्वर** (=इस्सर) या ब्रह्माके कर्त्तापनके मत (=आचार्यक)को श्रेष्ठ बतलाते हैं, उनके पास जाकर मैं यह पूछता हूँ—'क्या सचमुच आपलोग ईश्वर...के कर्त्तापनको श्रेष्ठ बतलाते हैं'? मेरे ऐसा पूछनेपर वे 'हाँ' कहते हैं। उनसे मैं (फिर) पूछता हूँ—'आपलोग कैसे **ईश्वर** या ब्रह्माके कर्त्तापनको श्रेष्ठ बतलाते हैं?' मेरे ऐसा पूछनेपर....वे मुझसे ही पूछने लगते हैं।....मैं उनको उत्तर देता हूँ—'....बहुत दिनोंके बीतनेपर....इस लोकका प्रलय होता है।....(फिर) बहुत काल बीतनेपर इस लोककी उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति होनेपर शून्य ब्रह्म-विमान (=ब्रह्माका उड़ता फिरता घर) प्रकट होता है। तब (आभास्वर देवलोकका) कोई प्राणी आयुके क्षीण होनेसे या पुण्यके क्षीण होनेसे....उस शून्य ब्रह्म-विमानमें उत्पन्न होता है।....वह वहाँ बहुत दिनोंतक रहता है। बहुत दिनों तक अकेला रहनेके कारण उसका जी ऊब जाता है, और उसे भय मालूम होने लगता है।[4]—'अहो दूसरे प्राणी भी यहाँ आवें।' ....

[1] ऐतरेय, १।१ [2] छपरा जिलामें कहीं पर, अनोमा नदीके पास था।

[3] पाथिकसुत्त, (दीघ-नि०, ३।१; अनुवाद, पृ० २२३)

[4] बुद्धका यहाँ ब्रह्माके अकेले डरनेसे बृहदारण्यकके इस वाक्य (१।४।१-२)की ओर इशारा है।—"आत्मा ही पहले था।....उसने नजर दौड़ाकर अपनेसे दूसरेको नहीं देखा।....वह भय खाने लगा। इसीलिए (आदमी) अकेला भय खाता है।....उसने दूसरे(के होने)की इच्छा की....।"

दूसरे प्राणी भी आयुके क्षय होनेसे....शून्य ब्रह्म-विमानमें उत्पन्न होते हैं।....जो प्राणी वहाँ पहिले उत्पन्न होता है, उसके मनमें होता है—'मैं ब्रह्मा, महा ब्रह्मा, विजेता, अ-विजित, सर्वज्ञ, वशवर्ती, **ईश्वर**, कर्त्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, स्वामी और भूत तथा भविष्यके प्राणियोंका पिता हूँ। मैंने ही इन प्राणियोंको उत्पन्न किया है।....(क्योंकि) मेरे ही मनमें यह पहिले हुआ था—'दूसरे भी प्राणी यहाँ आवें।' अतः मेरे ही मनसे उत्पन्न होकर ये प्राणी यहाँ आये हैं। और जो प्राणी पीछे उत्पन्न हुए, उनके मनमें भी उत्पन्न होता है 'यह ब्रह्मा....ईश्वर....कर्त्ता....है।....सो क्यों? (इसलिए कि) हम लोगोंने इसको पहिलेहीसे यहाँ विद्यमान पाया, हम लोग (तो) पीछे उत्पन्न हुए।' ... दूसरा प्राणी जब उस (देव-) कायाको छोड़कर इस (लोक)में आते हैं।....(जब इनमेंसे कोई) समाधिको प्राप्तकर उसमें पूर्वजन्मका स्मरण करता है, उसके आगे नहीं स्मरण करता है। वह कहता है—'जो वह ब्रह्मा....ईश्वर....कर्ता....है, वह नित्य=ध्रुव है, शाश्वत, निर्विकार और सदाके लिए वैसा ही रहनेवाला है। और जो हम लोग उस ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किये गये हैं (वह) अनित्य, अ-ध्रुव, अल्पायु, मरणशील हैं।' इस प्रकार (ही तो) आप लोग **ईश्वरका कर्त्तापन**....बतलाते हैं? वह....कहते हैं—'....जैसा आयुष्मान गौतम बतलाते हैं, वैसा ही हम लोगोंने (भी) सुना है'।"

उस वक्तकी—परंपरा, चमत्कार, शब्दकी अंधेरगर्दी प्रमाणमें ईश्वरका यह एक ऐसा बेहतरीन खंडन था, जिसमें एक बड़ा बारीक मज़ाक़ भी शामिल है।

सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा (=ईश्वर)का बुद्धने एक जगहपर और सूक्ष्म परिहास किया है।[1]—

....बहुत पहिले....एक भिक्षुके मनमें यह प्रश्न हुआ—'ये चार

[1] **केवट्टसुत्त (दीघ-निकाय, १।११; अनुवाद, पृ० ७९-८०)**

महाभूत—पृथिवी-धातु, जल-धातु, तेज-धातु, वायु-धातु—कहाँ जाकर बिल्कुल निरुद्ध हो जाते हैं ?'....उसने....चातुर्महाराजिक देवताओं (के पास) जाकर....(पूछा)....। **चातुर्महाराजिक** देवताओंने उस भिक्षुसे कहा—'....हम भी नहीं जानते....हमसे बढ़कर चार **महाराजा**[1] हैं। वे शायद इसे जानते हों....।'

"....'हमसे भी बढ़कर **त्रायस्त्रिंश**....याम....सुयाम....तुषित (देवगण)....संतुषितदेवपुत्र....निर्माणरति (देवगण)....सुनिर्मित (देवपुत्र)....परनिर्मितवशवर्त्ती (देवगण)....वशवर्त्ती नामक देवपुत्र....ब्रह्मकायिक नामक देवता हैं, वह शायद इसे जानते हों'।....ब्रह्मकायिक देवताओंने उस भिक्षुसे कहा—'हमसे भी बहुत बढ़ चढ़कर ब्रह्मा है,....वह....**ईश्वर**, कर्त्ता, निर्माता....और सभी पैदा हुए और होनेवालोंके पिता हैं, शायद वह जानते हों।'...(भिक्षुके पूछनेपर उन्होंने कहा—) 'हम नहीं जानते कि ब्रह्मा (=ईश्वर) कहाँ रहते हैं।'....इसके बाद शीघ्र ही महाब्रह्मा (=महान् ईश्वर) भी प्रकट हुआ।....(भिक्षुने) महाब्रह्मासे पूछा—'....ये चार महाभूत....कहाँ जाकर बिल्कुल निरुद्ध (=विलुप्त) हो जाते हैं ?'....महाब्रह्माने कहा—'....मैं ब्रह्मा....**ईश्वर**....पिता हूँ।'....दूसरी बार भी....महाब्रह्मासे पूछा—'....मैं तुमसे यह नहीं पूछता, कि तुम ब्रह्मा....**ईश्वर**....पिता....हो।....मैं तो तुमसे यह पूछता हूँ—ये चार महाभूत....कहाँ....बिल्कुल निरुद्ध हो जाते हैं ?'....तीसरी बार भी.....पूछा—तब महाब्रह्माने उस भिक्षुकी बाँह पकड़, (देवताओंकी सभासे) एक ओर ले जाकर-....कहा—'हे भिक्षु, ये देवता....मुझे ऐसा समझते हैं कि....(मेरे लिए) कुछ अज्ञात...अ-दृष्ट नहीं है...इसीलिए मैंने उन लोगोंके सामने नहीं बतलाया। भिक्षु ! मैं भी नहीं जानता....यह तुम्हारा

[1] **धृतराष्ट्र, विरूढक, विरूपाक्ष, वैश्रवण (=कुवेर)**

ही दोष है....कि तुम....(बुद्ध)को छोड़ बाहरमें इस बातकी खोज करते हो।....उन्हींके....पास जाओ,....जैसा....(वह) कहें, वैसा ही समझो।' "

स्मरण रखना चाहिए कि आज हिन्दूधर्ममें ईश्वरसे जो अर्थ लिया जाता है, वही अर्थ उस समय ब्रह्मा शब्द देता था। अभी शिव और विष्णुको ब्रह्मासे ऊपर नहीं उठाया गया था। बुद्धकी इस परिहासपूर्ण कहानीका मजा तब आयेगा, यदि आप यहाँ ब्रह्माकी जगह अल्लाह या भगवान्, बुद्धकी जगह मार्क्स और भिक्षुकी जगह किसी साधारणसे मार्क्स-अनुयायीको रखकर इसे दुहरायें। हजारों अ-विश्वसनीय चीजोंपर विश्वास करनेवाले अपने समयके अन्ध श्रद्धालुओंको बुद्ध बतलाना चाहते थे, कि तुम्हारा ईश्वर नित्य, ध्रुव वगैरह नहीं है, न वह सृष्टिको बनाता बिगाड़ता है, वह भी दूसरे प्राणियोंकी भाँति जन्मने-मरनेवाला है। वह ऐसे अनगिनत देवताओंमें सिर्फ़ एक देवतामात्र है। बुद्धके ईश्वर (=ब्रह्मा)के पीछे "लाठी" लेकर पड़नेका एक और उदाहरण लीजिए। अबके बुद्ध स्वयं जाकर "ईश्वर"को फटकारते हैं[1]—

"एक समय....वक ब्रह्माको ऐसी बुरी धारणा हुई थी[2]—'यह (ब्रह्मलोक) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, शुद्ध, अ-च्युत, अज, अजर, अमर है, न च्युत होता है, न उपजता है। इससे आगे दूसरा निस्सरण (पहुँचनेका स्थान) नहीं है।'....तब मैं....ब्रह्मलोकमें प्रकट हुआ। वक ब्रह्माने दूरसे ही मुझे आते देखा। देखकर मुझसे कहा—'आओ मार्ष! (मित्र!) स्वागत मार्ष! चिरकालके बाद मार्ष! (आपका) यहाँ आना हुआ। मार्ष! यह (ब्रह्मलोक) नित्य, ध्रुव, शाश्वत,....अजर....अमर ....है.... ।'....ऐसा कहनेपर मैंने कहा—'अविद्यामें पड़ा

[1] ब्रह्मनिमन्तिक-सुत्त (म० नि०, १।५।९; अनुवाद०, पृ० १९४-५)

[2] याज्ञवल्क्यने गार्गीको ब्रह्मलोकसे आगेके प्रश्नको शिर गिरनेका डर दिखलाकर रोक दिया था। (बृहदारण्यक ३।६)

है, अहो ! वक ब्रह्मा, अविद्यामें पड़ा है, अहो ! वक ब्रह्मा, जो कि अनित्यको नित्य कहता है, अशाश्वतको शाश्वत. . . . ।'. . . .ऐसा कहने पर. . . .वक ब्रह्माने. . . .कहा—'मार्ष ! मैं नित्यको ही नित्य कहता हूँ. . . .।'. . . .मैंने कहा—. . . .'. . . .ब्रह्मा ! . . . .(दूसरे लोकसे) च्युत होकर तू यहाँ उत्पन्न हुआ ।'. . . .।"

ब्राह्मण अन्धेके पीछे चलनेवाले अन्धोंकी भाँति बिना जाने देखे ईश्वर (ब्रह्मा) और उसके लोकपर विश्वास रखते हैं, इस भावको समझाते हुए एक जगह और बुद्धने कहा है[1]—

वाशिष्ट ब्राह्मणने बुद्धसे कहा—'हे गौतम ! मार्ग-अमार्गके संबंधमें **ऐतरेय** ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण छन्दावा ब्राह्मण,. . . .नाना मार्ग बतलाते हैं, तो भी वह ब्रह्माकी सलोकताको पहुँचाते हैं । जैसे. . . .ग्राम या कस्बेके पास बहुतसे, नाना मार्ग होते हैं, तो भी वे सभी ग्राममें ही जानेवाले होते हैं ।'. . . .

'वाशिष्ट ! . . . .त्रैविद्य ब्राह्मणोंमें एक ब्राह्मण भी नहीं, जिसने ब्रह्माको अपनी आँखसे देखा हो. . . .एक आचार्य. . . .एक आचार्य-प्राचार्य. . . .सातवीं पीढ़ी तकका आचार्य भी नहीं ।. . .ब्राह्मणोंके पूर्वज, ऋषि[2] मंत्रोंके कर्त्ता, मंत्रोंके प्रवक्ता. . . .अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज, वशिष्ट, कश्यप, भृगु—में क्या कोई है,

[1] तेविज्ज-सुत्त (दी० नि० १।१३; अनुवाद, पृ० ८७-९)

[2] ऋग्वेदके ऋषियोंमें वामकका नाम नहीं है, अंगिराका भी अपना मंत्र नहीं है, किंतु अंगिराके गोत्रियोंके ५७से ऊपर सूक्त हैं। (ऋक् १।३५।३६; ६।१५; ८।५७-५८, ६४, ७४, ७६, ७८-७९, ८१-८५, ८७, ८८; ९।४, ३०, ३५-३६, ३९-४०, ४४-४६, ५०-५२, ६१, ६७, (२२-३२), ६९, ७२, ७३, ८३, ९४, ९७, (४५-५८), १०८ (८-११), ११२; १०।४२-४४, ४७, ६७-६८, ७१, ७२, ८२, १०७, १२८, १६४, १७२-७४ बाकी आठ ऋषियोंके बनाए ऋग्-मंत्र इस प्रकार हैं—

....जिसने ब्रह्माको अपनी आँखोंसे देखा हो।....'जिसको न जानते हैं, न देखते हैं उसकी सलोकताकेलिए मार्ग उपदेश करते हैं।' ....वाशिष्ट! (यह तो वैसे ही हुआ), जैसे अन्धोंकी पाँति एक

	सूक्त संख्या	पता
१. अष्टक (विश्वामित्र-पुत्र)	१	१।१०४
२. वामक	०	
३. वामदेव (वृहदुक्थ, मूर्धन्वा, अंहोमुचके पिता)	५५	४।१-४१, ४५-५८
४. विश्वामित्र (कुशिक-पुत्र)	४६	३।१-१२, २४, २६, २७-३०, ३२-५३, ५७-६२; ९।६७ (१३-१५); ९। १०१ (१३-१६)
५. जमदग्नि (भार्गव)	४	८।९०; ९।६२, ६५, ६७ (१६-१८)
६. अंगिरा	०	०
७. भरद्वाज (वृहस्पति-पुत्र)	६०	६।१-१४, १६-३२, ३७-४३, ५३-७४; ९।६७ (१-३)
८. वशिष्ट (मित्रावरुण-पुत्र)	१०५	७।१-१०४; ९।६७ (१९-२१), ९०, ९७ (१-३)
९. कश्यप (मरीचि-पुत्र)	७	१।९९; ९।६४, ६७ (४-६), ९१-९३, ११३-१४
१०. भृगु (वरुण-पुत्र)	१	९।६५

दूसरेसे जुड़ी हो, पहिलेवाला भी नहीं देखता, बीचवाला भी नहीं देखता, पीछेवाला भी नहीं देखता। . . . ."

(६) अकथनीय दश––बुद्धने कुछ बातोंको अकथनीय (=**अव्याकृत**)कहा है, कितने ही बौद्धिक बेईमानीके लिए उतारू भारतीय लेखक उसीका सहारा लेकर यह कहना चाहते है, कि बुद्ध ईश्वर, आत्माके बारेमें चुप थे। इसलिए चुप्पीका मतलब यह नहीं लेना चाहिए, कि बुद्ध उनके अस्तित्वसे इन्कार करते है। लेकिन वह इस बातको छिपाना चाहते हैं, कि बुद्धकी अव्याकृत बातोंकी सूची खुली हुई नहीं है, कि उसमें जितनी चाहें उतनी बातें आप दर्ज करते जायें। बुद्धके अव्याकृतोंकी सूचीमें सिर्फ दस बातें हैं, जो लोक (=दुनिया), जीव-शरीरके भेद-अभेद तथा मुक्त-पुरुषकी गतिके बारेमें हैं[1]—

क लोक	१. क्या लोक नित्य है ?	अ-व्याकृत (=अ-कथनीय, चुप)
	२. क्या लोक अनित्य है ?	
	३. क्या लोक अन्तवान् है ?	
	४. क्या लोक अनन्त है ?	
ख. जीव-शरीरकी एकता	५. क्या जीव और शरीर एक हैं ?	
	६. क्या जीव दूसरा शरीर दूसरा है ?	
ग. निर्वाणके बाद-की अवस्था	७. क्या मरनेके बाद तथागत (-मुक्त) होते है ?	
	८. क्या मरनेके बाद तथागत नहीं होते ?	
	९. क्या मरनेके बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते हैं ?	
	१०. क्या मरनेके बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते हैं ?	

मालुंक्यपुत्तने बुद्धसे इन दश अव्याकृत बातोंके बारेमें प्रश्न किया था।[1]—

[1] म०नि०, २।२।३ (अनुवाद, पृ० २५१)

"यदि भगवान् (इन्हें) जानते हैं,....तो बतलायें,....नहीं जानते हों,....तो न जानने-समझनेवालेके लिए यही सीधी (बात) है, कि वह (साफ कह दे)—मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम।....'

बुद्धने इसका उत्तर देते हुए कहा—

"....मैंने इन्हें अव्याकृत (इसलिए)....(कहा) है; (क्योंकि) ....यह (=इनके बारेमें कहना) सार्थक नहीं, भिक्षु-चर्या (=आदि ब्रह्मचर्य)के लिए उपयोगी नहीं, (और) न यह निर्वेद=वैराग्य, निरोध=शान्ति....परम-ज्ञान, निर्वाणके लिए (आवश्यक) हैं; इसीलिए मैंने उन्हें अव्याकृत किया।"

(सर राधाकृष्णन्‌की लीपापोती—) बुद्धके दर्शनमें इस प्रकार ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म—किसी भी नित्य ध्रुव पदार्थकी गुंजाइश न रहनेपर भी, उपनिषद् और ब्राह्मणके तत्त्वज्ञान—सत्-चिद्-आनन्द—से बिलकुल उल्टे तत्त्वों अ-सत् (=अनित्य, प्रतीत्य समुत्पन्न)-अ-चित् (=अनात्म)-अन्-आनंद (=दुःख)—अनित्य-दुःख-अनात्म—की घोषणा करनेपर भी यदि सर राधाकृष्णन् जैसे हिन्दू लेखक ग़ैरज़िम्मेवारीके साथ निम्न वाक्योंको लिखनेकी धृष्टता करते हैं, तो इसे धर्मकीर्तिके शब्दोंमें "धिग् व्यापकं तमः" ही कहना पड़ेगा।—

(क) "उस (=बुद्ध)ने ध्यान और प्रार्थना (के रास्ते) को पकड़ा।"[1] किसकी प्रार्थना?

(ख) "बुद्धका मत था कि सिर्फ विज्ञान (=चेतना) ही क्षणिक है, और चीजें नहीं।"[2]

आपने 'सारे धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न हैं', इसकी खूब व्याख्या की?

(ग) "बुद्धने जो ब्रह्मके बारेमें साफ हाँ या नहीं नहीं कहा, इसे "किसी तरह भी परम सत्ता (=ब्रह्म)से इन्कारके अर्थमें नहीं लिया जा सकता।

[1] Indian Philosophy by Sir S. Radhakrishnan, (1st edition), p. 355 [2] वहीं, p. 378

यह समझना असम्भव है, कि बुद्धने दुनियाके इस बहावमें किसी वस्तुको ध्रुव (=नित्य) नही स्वीकार किया; सारे विश्वमें हो रही अ-शान्तिमें (उन्होंने) कोई ऐसा विश्राम-स्थान नहीं (माना), जहाँ कि मनुष्यका अशान्त हृदय शान्ति पा सके।"[१]

इसके लिए सर राधाकृष्णन्ने बौद्ध निर्वाणको 'परमसत्ता' मनवानेकी चेष्टा की है, किन्तु बौद्ध निर्वाणको अभावात्मक छोड़ भावात्मक वस्तु माना ही नहीं जा सकता। बुद्ध जब शान्तिके प्राप्तिकर्त्ता आत्माको भारी मूर्खता (=बालधर्म) मानते हैं, तो उसके विश्रामके लिए शान्तिका ठाँव राधाकृष्णन् ही ढूँढ़ सकते हैं! फिर आपने तो इस वचनको वही उद्धृत भी किया है—"यह निरन्तर प्रवाह या घटना है, जिसमें कुछ भी नित्य नहीं। यहाँ (=विश्वमें) कोई चीज नित्य (=स्थिर) नहीं—न नाम (=विज्ञान) ही और न रूप (=भौतिकतत्त्व) ही।"[२]

(घ) "आत्माके बारेमें बुद्धके चुप रहनेका दूसरा ही कारण था" ....[३]बुद्ध उपनिषद्मे वर्णित आत्माके बारेमें चुप है—वह न उसे स्वीकार ही करते हैं, न इन्कार ही।"[४]

नही जनाब! बुद्धके दर्शनका नाम ही अनात्मवाद है। उपनिषद्के नित्य, ध्रुव आत्माके साथ यहाँ 'अन्' लगाया गया है। "अनित्य दुःख अनात्म"की घोषणा करनेवालेके लिए आपके ये उद्गार सिर्फ यही साबित करते हैं, कि आप दर्शनके इतिहास लिखनेके लिए बिलकुल अयोग्य हैं।

आगे यह और दुहराते हैं—

"बिना इस अन्तर्हित तत्त्वके जीवनकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

[१] वहीं, पृष्ठ ३७९

[२] It is a perpetual process with nothing permanent. Nothing here is permanent, neither name nor form—**महावग्ग (विनय-पिटक)**, VI. 35. ff.

[३] वहीं, पृष्ठ ३८५ [४] वहीं, पृष्ठ ३८७

इसीलिए बुद्ध बराबर आत्माकी सत्यताके निषेधसे इन्कार करते थे।"[1]

इसे कहते हैं—"मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी।" और बुद्धके सामने जानेपर राधाकृष्णन्‌की क्या गति होती, इसके लिए मालुंक्य-पुत्तकी घटनाको पढ़िए।

(ङ) **मिलिन्द-प्रश्नके** रचयिता नागसेन (१५० ई० पू०)ने बुद्धके दर्शनकी व्याख्या जिस सरलताके साथ यवनराजा मिनान्दरके सामने की, उसके बारेमें सर राधाकृष्णन्‌का कहना है—

"नागसेनने बौद्ध(=बुद्धके) विचारको उसकी पैतृक शाखा(=उपनिषद्?)से तोड़कर शुद्ध बौद्धिक(=बुद्धिसगत) क्षेत्रमें रोप दिया।"[2]

और—

"बुद्धका लक्ष्य(=मिशन) था, कि उपनिषद्‌के श्रेष्ठ विज्ञानवाद (Idealism)को स्वीकार कर उसे मानव जातिके दिन-प्रतिदिनकी आवश्यकताके लिए सुलभ बनायें। ऐतिहासिक बौद्ध धर्मका अर्थ है, उपनिषद्‌के सिद्धान्तका जनतामें प्रसार।"[3]

स्वयं बुद्ध उनके समकालीन शिष्य, नागसेन (१५० ई० पू०), नागार्जुन (१७५ ई०), असंग (३७५ ई०), वसुबंधु (४०० ई०), दिग्नाग (४२५ ई०), धर्मकीर्ति (६००), धर्मोत्तर, शान्तरक्षित (७५० ई०), ज्ञानश्री, शाक्यश्रीभद्र (१२०० ई०) जिस रहस्यको न जान पाये थे, उसे खोज निकालनेका श्रेय सर राधाकृष्णन्‌को है, जिन्होंने अनात्मवादी बुद्धको उपनिषद्‌के आत्मवादका प्रचारक सिद्ध कर दिया। २५०० वर्षों तथा भारत, लंका, बर्मा, स्याम, चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, तिब्बत, मध्य-एसिया, अफ़गानिस्तान और दूसरे देशों तक फैले भूभागपर कितना भारी भ्रम फैला हुआ था जो कि वह बुद्धको अनात्मवादी अनीश्वरवादी समझते रहे! और अक्षपाद, बादरायण, वात्स्यायन, उद्योतकर, कुमारिल, वाचस्पति, उदयन जैसे ब्राह्मणोंने भी बुद्धके दर्शनको जिस

[1] वहीं, पृष्ठ ३८६ [2] वहीं, पृ० ३९० [3] वहीं, पृष्ठ ४७१

तरहका समझा वह भी उनकी भारी "अविद्या" थी !

(७) **विचार-स्वातंत्र्य**—प्रतीत्य-समुत्पादके आविष्कर्त्ताके लिए विचार-स्वातंत्र्य स्वाभाविक चीज थी। बौद्ध दार्शनिकोंने अपने प्रवर्त्तकके आदेशके अनुसार ही प्रत्यक्ष और अनुमान दोके अतिरिक्त तीसरे प्रमाण-को माननेसे इन्कार कर दिया। बुद्धने विचार-स्वातंत्र्यको अपने ही उपदेशोंसे इस प्रकार शुरू किया था[1]—

"भिक्षुओ ! मैं बेड़े (=कुल्ल) की भाँति पार जानेके लिए तुम्हें धर्मका उपदेश करता हूँ, पकड़ रखनेके लिए नहीं।...जैसे भिक्षुओ ! पुरुष ....ऐसे महान् जल-अर्णवको प्राप्त हो, जिसका उरला तीर खतरे और भयसे पूर्ण हो और परला तीर क्षेमयुक्त तथा भयरहित हो। वहाँ न पार ले जानेवाली नाव हो, न इधरसे उधर जानेके लिए पुल हो।.... तब वह....तृण-काष्ठ-पत्र जमाकर बेड़ा बाँधे और उस बेड़ेके सहारे हाथ और पैरसे मेहनत करते स्वस्तिपूर्वक पार उतर जाये।....उतर जानेपर उसके (मनमें) हो—'यह बेडा मेरा बड़ा उपकारी हुआ है, इसके सहारे....मैं पार उतर सका, क्यों न मैं ऐसे बेड़ेको शिरपर रख कर, या कन्धेपर उठाकर....ले चलूँ।'....तो क्या....ऐसा करनेवाला पुरुष उस बेड़ेके प्रति (अपना) कर्त्तव्य पालन करनेवाला होगा ?' ....नहीं....। 'भिक्षुओ ! वह पुरुष उस बेड़ेसे दुःख उठानेवाला होगा।' "

एक बार बुद्धसे केशपुत्र ग्रामके कालामोंने नाना मतवादोंके सच-झूठमें सन्देह प्रकट करते हुए पूछा था[2]—

"भन्ते ! कोई-कोई श्रमण (=साधु) ब्राह्मण केशपुत्रमें आते हैं, अपने ही वाद (=मत) को प्रकाशित...करते हैं, दूसरेके वादपर नाराज होते हैं, निन्दा करते हैं।....दूसरे भी....अपने ही वादको प्रकाशित

[1] म० नि०, १।३।२ (अनुवाद, पृष्ठ ८६-८७)
[2] अंगुत्तर-निकाय, ३।७।५

....करते....दूसरेके वादगर नाराज होते हैं। तब....हमें सन्देह....होता है—कौन इन....में सच कहता है, कौन झूठ ?"

"कालामो ! तुम्हारा सन्देह....ठीक है, सन्देहके स्थानमें ही तुम्हें सन्देह उत्पन्न हुआ है।...कालामो ! मत तुम श्रुत (=सुने वचनों, वेदों) के कारण (किसी बातको मानो), मत तर्कके कारणसे, मत नय-हेतुसे, मत (वक्ताके) आकारके विचारसे, मत अपने चिर-विचारित मतके अनुकूल होनेसे, मत (वक्ताके) भव्यरूप होनेसे, मत 'श्रमण हमारा गुरु है' से। जब कालामो ! तुम खुद ही जानो कि ये धर्म (=काम या बात) अच्छे, अदोष, विज्ञोंसे अनिन्दित है यह लेने, ग्रहण करनेपर हित, सुखके लिए होते हैं, तो कालामो ! तुम उन्हें स्वीकार करो।"

(८) **सर्वज्ञता नहीं**—बुद्धके समकालीन वर्धमानको सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहा जाता था, जिसका प्रभाव पीछे बुद्धके अनुयायियोंपर भी पड़े बिना नहीं रहा। तो भी बुद्ध स्वयं सर्वज्ञताके ख्यालके विरुद्ध थे।

वत्सगोत्रने पूछा[1]—"सुना है भन्ते ! 'श्रमण गौतम सर्वज्ञ सर्वदर्शी है....'—(क्या ऐसा कहनेवाले)....यथार्थ कहनेवाले हैं ? भगवान्‌की असत्य....से निन्दा तो नहीं करते ?"

"वत्स ! जो कोई मुझे ऐसा कहते हैं...., वह मेरे बारेमें यथार्थ कहनेवाले नहीं हैं। वह असत्यसे....मेरी निन्दा करते हैं।"

और अन्यत्र[2]—

"ऐसा श्रमण ब्राह्मण नहीं है जो एक ही बार सब जानेगा, सब देखेगा (सर्वज्ञ सर्वदर्शी होगा)।"

(९) **निर्वाण**—निर्वाणका अर्थ है बुझना—दीप या आगका जलते-जलते बुझ जाना। प्रतीत्यसमुत्पन्न (विच्छिन्न प्रवाह रूपसे उत्पन्न) नाम-रूप (=विज्ञान और भौतिक तत्त्व) तृष्णाके गारेसे मिलकर जो एक जीवन-प्रवाहका रूप धारण कर प्रवाहित हो रहे हैं, इस प्रवाहका

[1] म० नि०, २।३।१ [2] म० नि०, २।४।१० (अनुवाद, पृष्ठ ३६९)

अत्यन्त विच्छेद ही निर्वाण है। पुराने तेल-बत्ती या ईंधनके जल चुकने तथा नयेकी आमदनी न होनेसे जैसे दीपक या अग्नि बुझ जाते हैं, उसी तरह आस्रवों=चित्तमलों, (काम-भोगों, पुनर्जन्म और नित्य आत्माके नित्यत्व आदिकी दृष्टियों)के क्षीण होनेपर यह आवागमन नष्ट हो जाता है। निर्वाण बुझना है, यह उसका शब्दार्थ ही बतलाता है। बुद्धने अपने इस विशेष शब्दको इसी भावके द्योतनके लिए चुना था। किन्तु साथ ही उन्होंने यह कहनेसे इन्कार कर दिया कि निर्वाण-गत पुरुष (=तथागत)का मरनेके बाद क्या होता है। अनात्मवादी दर्शनमें उसका क्या हो सकता है, यह तो आसानीसे समझा जा सकता है; किन्तु वह ख्याल "बालाना त्रासजनकम्" (=अज्ञोंको भयभीत करनेवाला) है, इसलिए बुद्धने उसे स्पष्ट नहीं कहना चाहा[1]। उदानके इस वाक्यको लेकर कुछ लोग निर्वाणको एक भावात्मक ब्रह्मलोक जैसा बनाना चाहते हैं।[2]—

"हे भिक्षुओ! अ-जात, अ-भूत, अ-कृत=अ-संस्कृत।" किन्तु, यह निषेधात्मक विशेषणसे किसी भावात्मक निर्वाणको सिद्ध तभी कर सकते थे, जब कि उसके 'आनन्द'का भोगनेवाला कोई नित्य ध्रुव आत्मा होता। बुद्धने निर्वाण उस अवस्थाको कहा है, जहाँ तृष्णा क्षीण हो गई, आस्रव=चित्तमल (=भोग, जन्मान्तर और विशेष मतवादकी तृष्णाएं हैं) जहाँ नहीं रह जाते। इससे अधिक कहना बुद्धके अ-व्याकृत प्रतिज्ञाकी अवहेलना करनी होगी।[3]

४. बुद्धका दर्शन और तत्कालीन समाज-व्यवस्था

दर्शन दिमागकी चीज है, फिर हाड़-मांसके समूहोंवाले समाजका उसपर क्या बस है? वह केवल मनकी ऊँची उडान, मनोमय जगत्की

[1] इतिवुत्तक, २।२।६ [2] उदान, ८।३

[3] उदान, ८।२—"दुद्दसं अनत्तं नाम न हि सच्चं सुदस्सनं।
पटिविद्धा तण्हा जानतो पस्सतो नत्थि किञ्चन॥"

उपज है, इसलिए उसे उसी तलपर देखना चाहिए। दर्शनके संबंधमें इस तरहके विचार पूरब और पश्चिम दोनोंमें देखे जाते है। उनके ख्यालमें दर्शन भौतिक विश्वसे बिल्कुल अलग चीज है। लेकिन हमने यूनानी-दर्शनमें भी देखा है, कि दर्शन मनकी चीज होते भी "तीन लोकसे मथुरा न्यारी"वाली चीज नहीं रहा। खुद मन भौतिक उपज है। याज्ञवल्क्यके गुरु उद्दालक आरुणिने भी साफ स्वीकार किया था कि "मन अन्नमय है।....खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्मांश ऊपर जाता है, वही मन है।"[1] हम खुद अन्यत्र[2] बतला आये हैं, कि हमारे मनके विकासमें हमारे हाथों—हाथके श्रम, सामाजिक और वैयक्तिक दोनों—का सबसे भारी हिस्सा है। मनुष्यकी भाँति मनुष्यका मन भी अपने निर्माणमें समाजका बहुत ऋणी है। ऐसी स्थितिमें मनकी उपज दर्शनकी भी व्याख्या समाजसे दूर जाकर कैसे की जा सकती है? इसलिए सजीव आँखकी असलियतको जैसे शरीरसे अलग निकालकर देखनेसे नहीं मालूम हो सकती, उसी तरह दर्शनके समझनेमें भी हमें उसे उसके जन्म, और कार्यकी परिस्थितिमें देखना होगा।

उपनिषद्को हम देख चुके हैं, समाजकी स्थितिको धारण करने (=रोकने)वाले धर्म (वैदिक कर्मकाड और पाठ-पूजा)की ओरसे आस्था उठते देख पहिले शासक वर्गको चिन्ता हुई और क्षत्रियों—राजाओं—ने ब्रह्मज्ञान तथा पुनर्जन्मके दर्शनको पैदाकर बुद्धिको थकाने तथा सामाजिक विषमताको उचित ठहरानेकी चेष्टा की। द्वन्द्वात्मक रीतिसे विश्लेषण करनेपर हम देखेंगे—(१)

वाद—यज्ञ, वैदिक कर्मकांड, पाठ-पूजा श्रेयका रास्ता है।

प्रतिवाद—यज्ञ रूपी घरनई पार होनेके लिए बहुत कमजोर है।

संवाद—ब्रह्मज्ञान श्रेयका रास्ता है, जिसमें कर्म सहायक होता है।

बुद्धका दर्शन—(२)

[1] छान्दोग्य-उपनिषद्, ६।६।१–५ [2] "मानव-समाज" पृ० ४–६

वाद (उपनिषद्)—आत्मवाद।

प्रतिवाद (चार्वाक)—आत्मा नहीं भौतिकवाद।

संवाद (बुद्ध)—अभौतिक अनात्मवाद।

यह तो हुई विचार-शृंखला। समाजमें वैदिक धर्म स्थिति-स्थापक था, और वह सम्पत्तिवाले वर्गकी रक्षा और श्रमिक—दास, कर्मकर—वर्गपर अंकुश रखनेके लिए, खूनी हाथोंमें जनताको कुचलकर स्थापित हुए राज्य (=शासन)की मदद करना चाहा था। इसका पारितोषिक था धार्मिक नेताओं (=पुरोहितों)का शोषणमें और भागीदार बनाया जाना। शोषित जनता अपने स्वतंत्र—वर्गहीन, आर्थिक दासता-विहीन—दिनोंको भूलसी चुकी थी, धर्मके प्रपंचमें पड़कर वह अपनी वर्त्तमान परिस्थितिको "देवताओंका न्याय" समझ रही थी। शोषित जनताको वास्तविक न्याय करवानेके लिए तैयार करनेके वास्ते जरूरी था, कि उसे धर्मके प्रपंचसे मुक्त किया जाये। यह प्रयोजन था, नास्तिकवाद (=देव-परलोकसे इन्कारी)—भौतिकवादका। ब्राह्मण (पुरोहित) अपनी दक्षिणा समेटनेमें मस्त थे, उन्हें भुसके ढेरमें सुलगती इस छोटी सी चिगारीकी पर्वाह न थी। सदियोंसे आये कर्म-धर्मको वह वर्गशोषणका साधन नहीं बल्कि साध्य समझने लगे थे, इसलिए भी वह परिवर्त्तनके इच्छुक न थे। क्षत्रिय (=शासक) ठोस दुनिया और उसके चलने-फिरनेवाले, समझनेकी क्षमता रखनेवाले शोषित मानवोंकी प्रकृति और क्षमताको ज्यादा समझते थे। उन्होंने खतरेको अनुभव किया, और धर्मके फंदेको दृढ़ करनेके लिए ब्रह्मवाद और पुनर्जन्मको उसमें जोड़ा। शुरूमें पुरोहितवर्ग इससे कितना नाराज हुआ होगा, इसकी प्रतिध्वनि हमें जैमिनि और कुमारिलके मीमांसा-दर्शनमें मिलेगी; जिन्होंने कि ब्रह्म (=पुरुष) ब्रह्मज्ञान सबसे इन्कार कर दिया—वेद अपौरुषेय है, उसे किसीने नहीं बनाया है। वह प्रकृतिकी भाँति स्वयंभू है। वेदका विधान कर्मफल, परलोककी गारंटी है। वेद सिर्फ कर्मोंका विधान करते हैं, इन्हीं विधान-वाक्योंके समर्थनमें **अर्थवाद** (=स्तुति, निन्दा, प्रशंसा)के तौरपर बाकी संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्का

सारा वक्तव्य है। तो भी जो प्रहार हो चुका था, उससे वैदिक कर्मकांडको बचाया नहीं जा सकता था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे पता लगता है, कि लोकायत (=भौतिक-नास्तिक)-वाद शासकोंमें भी भीतर ही भीतर बहुत प्रिय था। किन्तु दूसरी ही दृष्टिसे वह समयके अनुसार, सिर्फ अपने स्थायी स्वार्थोंका ख्याल रखते हर सामाजिक—धार्मिक—रूढ़िको बदलनेकी स्वतंत्रता चाहते थे। लोगोंके धार्मिक मिथ्याविश्वासोंसे फायदा उठाकर, शासकोंको दैवी चमत्कारों द्वारा राज्यकोष और बल बढानेकी वहाँ साफ सलाह दी गई है। "दशकुमारचरित"के समय (ई० छठी सदीमें तो राज्यके गुप्तचर धार्मिक "निर्दोष वेष"को बेखटके इस्तेमाल करते थे; और इस तरीकेका इस्तेमाल चाणक्य और उसके पहिलेके शासक भी निस्संकोच करते थे, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन, शासकवर्ग भौतिकवादको अपने प्रयोजनके लिए इस्तेमाल करता था—सिर्फ, "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" (=ऋण करके घी पीने)के नीच उद्देश्य थे। वही भौतिकवाद जब शोषित-श्रमितवर्गके लिए इस्तेमाल होता, तो उसका उद्देश्य वैयक्तिक स्वार्थ नहीं होता था। अब अपने श्रमका फल स्वयं भोगनेकी माँग पेश करता—शोषणको बन्द करना चाहता था।

बुद्धका दर्शन अपने मौलिक रूप—प्रतीत्य-समुत्पाद (=क्षणिकवाद)—में भारी क्रान्तिकारी था। जगत्, समाज, मनुष्य सभीको उसने क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील घोषित किया, और कभी न लौटनेवाले "ते हि नो दिवसा गताः" (=वे हमारे दिवस चले गये)की पर्वाह छोड़कर परिवर्त्तनके अनुसार अपने व्यवहार, अपने समाजके परिवर्त्तनके लिए हर वक्त तैयार रहनेकी शिक्षा देता था। बुद्धने अपने बड़े-से-बड़े दार्शनिक विचार ("धर्म")को भी बेड़ेके समान सिर्फ उससे फायदा उठानेके लिए कहा था, और उसे समयके बाद भी ढोनेकी निन्दा की थी। तो भी इस क्रान्तिकारी दर्शनने अपने भीतरसे उन तत्त्वों (धर्म)को हटाया नहीं था, जो "समाजकी प्रगतिको रोकने"का काम देते हैं। पुनर्जन्मको यद्यपि बुद्धने नित्य आत्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें आवागमनके

रूपमें माननेसे इन्कार किया था, तो भी दूसरे रूपमें परलोक और पुनर्जन्मको माना था। जैसे इस शरीरमें 'जीवन' विच्छिन्न प्रवाह (नष्ट—उत्पत्ति—नष्ट—उत्पत्ति)के रूपमें एक तरहकी एकता स्थापित किये हुए है, उसी तरह वह शरीरान्तरमें भी जारी रहेगा। पुनर्जन्मके दार्शनिक पहलूको और मजबूत करते हुए बुद्धने पुनर्जन्मका पुनर्जन्म प्रतिसन्धिके रूपमें किया—अर्थात् नाश और उत्पत्तिकी संधि (=शृंखला)से जुड़कर जैसे जीवन-प्रवाह इस शरीरमें चल रहा है, उसी तरह उसकी प्रतिसंधि (=जुड़ना) एक शरीरसे अगले शरीरमें होती है। अविकारी ठोस आत्मामें पहिलेके संस्कारोंको रखनेका स्थान नहीं था, किन्तु क्षण-परिवर्तनशील तरल **विज्ञान** (=जीवन)मे उसके वासना या संस्कारके रूपमें अपना अंग बनकर चलनेमे कोई दिक्कत न थी। क्षणिकता सृष्टिकी व्याख्याके लिए पर्याप्त थी, किन्तु ईश्वरका काम संसारमें व्यवस्था, समाजमें व्यवस्था (=शोषितको विद्रोहसे रोकनेकी चेष्टा)—कायम रखना भी है। इसके लिए बुद्धने **कर्मके** सिद्धान्तको और मजबूत किया। आवागमन, धनी-निर्धनका भेद उसी कर्मके कारण है, जिसके कर्त्ता कभी तुम खुद थे, यद्यपि आज वह कर्म तुम्हारे लिए हाथसे निकला तीर है।

इस प्रकार बुद्धके **प्रतीत्य-समुत्पादको** देखनेपर जहा तत्काल प्रभु-वर्ग भयभीत हो उठता, वहाँ, प्रतिसंधि और कर्मका सिद्धान्त उन्हे बिलकुल निश्चिन्त कर देता था। यही वजह थी जो कि बुद्धके झंडेके नीचे हम बडे-बड़े राजाओं सम्राटों, सेठ-साहूकारोंको आते देखते है, और भारतसे बाहर—लंका, चीन, जापान, तिब्बतमें तो उनके धर्मको फैलानेमें राजा सबसे पहिले आगे बढ़े।—वह समझते थे, कि यह धर्म सामाजिक विद्रोहके लिए नहीं बल्कि सामाजिक स्थितिको स्थापित रखनेके लिए बहुत सहायक साबित होगा। जातियों, देशोंकी सीमाओंको तोड़कर बुद्धके विचारोंने राज्य-विस्तार करनेमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपेण भारी मदद की। समाजमें आर्थिक विषमताको अक्षुण्ण रखते ही बुद्धने वर्ण-व्यवस्था, जातीय ऊँच-नीचके भावको हटाना चाहा था, जिससे वास्तविक विषमता तो

नहीं हटी, किन्तु निम्न वर्गका सद्भाव जरूर बौद्ध धर्मकी ओर बढ़ गया। वर्ग-दृष्टिसे देखनेपर बौद्धधर्म शासकवर्गके एजंटकी मध्यस्थता जैसा था, वर्गके मौलिक स्वार्थको बिना हटाये वह अपनेको न्याय-पक्षपाती दिखलाना चाहता था।

सिद्धार्थ गौतम अपने दर्शनके रूपमें सोचनेके लिए क्यों मजबूर हुए? इसके लिए उनके चारों ओरकी भौतिक परिस्थिति कहाँ तक कारण बनी? यह प्रश्न उठ सकते हैं। किन्तु हमें ख्याल रखना चाहिए कि व्यक्तिपर भौतिक परिस्थितिका प्रभाव समाजके एक आवश्यक रूपमें जो पडता है, कभी-कभी वही व्यक्तिकी विशेष दिशामें प्रतिक्रियाके लिए पर्याप्त है; और कभी-कभी व्यक्तिकी अपनी वैयक्तिक भौतिक परिस्थिति भी दिशा-परिवर्त्तनमें सहायक होती है। पहिली दृष्टिसे बुद्धके दर्शनपर हम अभी विचार कर चुके हैं। बुद्धकी वैयक्तिक भौतिक परिस्थितिका उनके दर्शनपर क्या कोई प्रभाव पड़ा है, जरा इसपर भी विचार करना चाहिए। बुद्ध शरीरसे बहुत स्वस्थ थे। मानसिक तौरसे वह शान्त, गम्भीर, तीक्ष्ण प्रतिभाशाली विचारक थे। महत्त्वाकांक्षाएं उनकी उतनी ही थीं, जितनी कि एक काफी योग्यता रखनेवाले आत्म-विश्वासी व्यक्तिको होनी चाहिए। वह अपने दार्शनिक विचारोंकी सच्चाईपर पूरा विश्वास रखते थे, प्रतीत्यसमुत्पादके महत्त्वको भली प्रकार समझते थे; साथ ही पहिले-पहिल उन्हें अपने विचारोंको फैलानेकी उत्सुकता न थी, क्योंकि वह तत्कालीन विचार-प्रवृत्तिको देखकर आशापूर्ण न थे। शायद अभी तक उन्हें यह पता न था, कि उनके विचारों और उस समयके प्रभुवर्गकी प्रवृत्तिमें समझौतेकी गुंजाइश है।

बुद्धके दर्शनका अनित्य,—अनात्मके अतिरिक्त दुःखवाद भी एक स्वरूप है। इस दुःखवादका कारण यदि उस समयके समाज तथा बुद्धकी अपनी परिस्थितिमें ढूँढ़ें, तो यही मालूम होता है, कि उन्हें बचपनमें ही मातृवियोग सहना पड़ा था, किन्तु उनकी मौसी प्रजापतीका स्नेह सिद्धार्थके लिए कम न था। घरमें उनको किसी प्रकारका कष्ट

हुआ हो, इसका पता नहीं लगता। एक धनिकपुत्रके लिए जो भोग चाहिए, वह उन्हें सुलभ थे। किन्तु समाजमें होती घटनाएँ तेजीसे उनपर प्रभाव डालती थीं। वृद्ध, बीमार और मृतके दर्शनसे मनमें वैराग्य होना इसी बातको सिद्ध करता है। दुःखकी सच्चाईको हृदयंगम करनेके लिए यही तीन दर्शन नहीं थे, इससे बढ़कर मानवकी दासता और दरिद्रताने उन्हें दुःखकी सच्चाईको साबित करनेमें मदद दी होगी; यद्यपि उसका जिक्र हमें नहीं मिलता। इसका कारण स्पष्ट है—बुद्धने दरिद्रता और दासताको उठाना अपने प्रोग्रामका अंग नहीं बनाया था। आरम्भिक दिनोंमें, जान पड़ता है, दरिद्रता-दासताकी भीषणताको कुछ हलका करनेकी प्रवृत्ति बौद्धसंघमें थी। कर्ज देनेवाले उस समय सम्पत्ति न होने पर शरीर तक खरीद लेनेका अधिकार रखते थे, इसलिए कितने ही कर्जदार त्राण पानेके लिए भिक्षु बन जाते थे। लेकिन जब महाजनोंके विरोधी हो जानेका खतरा सामने आया, तो बुद्धने घोषित किया[1]—

"ऋणीको प्रव्रज्या (=संन्यास) नहीं देनी चाहिए।"

इसी तरह दासोंके भिक्षु बननेसे अपने स्वार्थपर हमला होते देख दास-स्वामियोंने जब हल्ला किया तो घोषित किया[2]—

"भिक्षुओ! दासको प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए।"

बुद्धके अनुयायी मगधराज बिंबिसारके सैनिक जब युद्धमें जानेकी जगह भिक्षु बनने लगे तो, सेनानायक और राजा बहुत घबराये, आखिर राज्यका अस्तित्व अन्तमें सैनिक-शक्तिपर ही तो निर्भर है। बिंबिसारने जब पूछा कि, राजसैनिकको साधु बनानेवाला किस दंडका भागी होता है, तो अधिकारियोंने उत्तर दिया[3]—

"देव! उस (=गुरु)का शिर काटना चाहिए, अनुशासक (=भिक्षु

[1] महावग्ग, १।३।४।८ (मेरा "विनयपिटक", हिन्दी, पृष्ठ ११८)
[2] वहीं १।३।४।६ (वहीं पृ० ११८)
[3] वहीं, १।३।४।२ (वहीं, पृ० ११६-११७)

बनाते वक्त विधिवाक्योंको पढनेवाले)की जीभ निकालनी चाहिए, और गण (=संघ)की पसली तोड़ देनी चाहिए।"

राजा बिंबिसारने जाकर बुद्धके पास इसकी शिकायत की, तो बुद्धने घोषित किया—

"भिक्षुओ ! राजसैनिकोंको प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए।"[1]

इस तरह दुःख-सत्यके साक्षात्कारमें दुःख-हेतुओंको संसारमें दूर करनेका जो सवाल था, वह तो खतम हो गया; अब उसका सिर्फ आध्यात्मिक मूल्य रह गया था, और वैसा होते ही सम्पत्तिवाले वर्गके लिए बुद्धका दर्शन विषदन्तहीन सर्प-सा हो जाता है।

सब देखनेपर हम यही कह सकते हैं, कि तत्कालीन दासता और दरिद्रता बुद्धको दुःखसत्य समझनेमें साधक हुए। दुःख दूर किया जा सकता है, इसे समझते हुए बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पादपर पहुँचे—क्षणिक तथा "हेतुप्रभव" होनेसे उसका अन्त हो सकता है। संसारमें साफ दिखाई देनेवाले दुःखकारणोंको हटानेमें असमर्थ समझ उन्होंने उसकी अलौकिक व्याख्या कर डाली।

[1] गहीं

द्वितीय अध्याय

नागसेन (१५० ई० पू०)

१. सामाजिक परिस्थिति

बुद्धके जन्मसे कुछ पहिले हीसे उत्तरी भारतके सामन्तोंने राज्य-विस्तारके लिए युद्ध छेड़ने शुरू किये थे—दो-तीन पीढ़ी पहिले ही कोसल-ने काशी-जनपदको हड़प कर लिया था। बुद्धके समयमें ही बिंबिसारने अंगको भी मगधमें मिला लिया और उस समय विंध्यमें होती मगधकी सीमा अवन्ती (उज्जैन)के राज्यसे मिलती थी। वत्स (=कौशाम्बी, इलाहाबाद)का राज भी उस वक्तके सभ्य भारतके बड़े शासकोंमें था। कोसल, मगध, वत्स, अवन्तीके अतिरिक्त लिच्छवियों (वैशाली)का प्रजा-तंत्र पाँचवीं महान् शक्ति थी। आर्य प्रदेशोंको विजय करते एक-एक **जन** (=कबीले)के रूपमें बसे थे। आर्योंकी यह नई बस्तियाँ पहिलेसे बसे लोगों और स्वयं दूसरे आर्य **जनों**के खूनी संघर्षोंके साथ मजबूत हुई थीं। कितनी ही सदियों तक राजतंत्र या प्रजातंत्रके रूपमें यह **जन** चले आये। उपनिषद्कालमें भी यह **जन** दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि **जनतंत्र**के रूपमें नहीं बल्कि अधिकतर सामन्ततंत्रके रूपमें। बुद्धके समय **जनों**की सीमाबंदियाँ टूट रही थीं, और काशि-कोसल, अंग-मगधकी भाँति अनेक जनपद मिलकर एक राज्य बन रहे थे। व्यापारी वर्गने व्यापारिक क्षेत्रमें इन सीमाओंको तोड़ना शुरू किया। एक नहीं अनेक राज्योंसे व्यापारिक संबंधके कारण उनका स्वार्थ उन्हें मजबूर कर रहा था, कि वह छोटे-छोटे स्वतंत्र जन-पदोंकी जगह एक बड़ा राज्य कायम होनेमें मदद करें। मगधके धनंजय सेठ (विशाखाके पिता)को साकेत(=अयोध्या)में बड़ी कोठी कायम करते

हम अन्यत्र[1] देख चुके हैं। जिस वक्त व्यापारी अपने व्यापार द्वारा, राजा अपनी सेना द्वारा जनपदोंकी सीमा तोड़नेमें लगे हुए थे, उस वक्त जो भी दर्शन या धार्मिक विचार उसमें सहायता देते, उनका अधिक प्रचार होना जरूरी था। बौद्ध धर्मने इस कामको सफलताके साथ किया, चाहे जान-बूझकर थैली और राजके हाथमें बिककर ऐसा न भी हुआ हो।

बुद्धके निर्वाणके तीन वर्ष बाद (४८० ई०पू०) अजातशत्रु (मगध)ने लिच्छवि प्रजातंत्रको खतम कर दिया, और अपने समयमें ही उसने अपने राज्यकी सीमा कोसीसे यमुना तक पहुँचा दी, उत्तर दक्खिनमें उसकी सीमा विंध्य और हिमालय थे। जनपदों, जातियों, वर्णोंकी सीमाओंको न मानने वाली बुद्धकी शिक्षा, यद्यपि इस बातमें अपने समकालीन दूसरे छै तीर्थंकरोंके समान ही थी, किन्तु उनके साथ उसके दार्शनिक विचार बुद्धिवादियोंको ज्यादा आकर्षक मालूम होते थे—पिछले दार्शनिक प्रवाहका चरम रूप होनेसे उसे श्रेष्ठ होना ही चाहिए था। उस समयके प्रतिभाशाली ब्राह्मणों और क्षत्रिय विचारकोंका भारी भाग बुद्धके दर्शनसे प्रभावित था। इन आदर्शवादी भिक्षुओंका त्याग और सादा जीवन भी कम आकर्षक न था। इस प्रकार बुद्धके समय और उसके बाद बौद्धधर्म युग-धर्म—जनपद-एकीकरण—मे सबसे अधिक सहायक बना। बिंबिसारके वंशके बाद नन्दोंका राज्यवंश आया, उसने अपनी सीमाको और बढ़ाया, और पच्छिममें सतलज तक पहुँच गया। पिछले राजवंशके बौद्ध होनेके कारण उसके उत्तराधिकारी नंदवंशका धार्मिक तौरसे बौद्धसंघके साथ उतना घनिष्ट संबंध चाहे न भी रहा हो, किन्तु राज्यके भीतर जबर्दस्ती शामिल किये जाते जनपदोंमें जनपदके व्यक्तित्वके भावको हटाकर एकताका जो काम बौद्ध कर रहे थे, उसके महत्त्वको वह भी नहीं भूल सकते थे—मगधमें बुद्धके जीवनमें उनका धर्म बहुत अधिक जनप्रिय हो चुका था, और वहाँका राज-धर्म भी हो ही चुका था। इस प्रकार मगध-राजके शासन और प्रभावके

[1] "मानवसमाज" पृष्ठ १३६-३८

विस्तारके साथ उसके बौद्धधर्मके विस्तारका होना ही था। नन्दोंके अन्तिम समयमें सिकन्दरका पंजाबपर हमला हुआ, यद्यपि यूनानियोंका उस वक्तका शासन बिल्कुल अ-स्थायी था, तो भी उसके कारण भारतमें यूनानी सिपाही व्यापारी, शिल्पी लाखोंकी संख्यामें बसने लगे थे। इन अभिमानी "म्लेच्छ" जातियोंको भारतीय बनानेमें सबसे आगे बढ़े थे बौद्ध। यवन मिनान्दर और शक कनिष्क जैसे प्रतापी राजाओंका बौद्ध होना आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि वह यह बतलाता है कि जनपद और जनपद, आर्य और म्लेच्छके बीचके भेदको मिटानेमें बौद्धधर्मने खूब हाथ बँटाया था।

२. यूनानी और भारतीय दर्शनोंका समागम

यूनानी भारतीयोंकी भाँति उस वक्तकी एक बड़ी सभ्य जाति थी। दर्शन, कला, व्यापार, राजनीति, सभीमें वह भारतीयोंसे पीछे तो क्या मूर्तिकला, नाटयकला जैसी कुछ बातोंमे तो भारतीयोंसे आगे थे। दर्शनके निम्न सिद्धान्तोंको उनके दार्शनिक आविष्कृत कर चुके थे, और इन्हें पिछले वक्तके भारतीयोंने बिना ऋण कबूल किये अपने दर्शनका अंग बना लिया।

वाद	दार्शनिक	समय ई० पू०
आकृतिवाद	पिथागोर	५७०-५००
क्षणिकवाद	हेराक्लितु	५३५-४७५
बीजवाद	अनखागोर	५००-४२८
परमाणुवाद	देमोक्रितु	४६०-३७०
विज्ञान (=आकृति)	अफलातूं	४२७-३४७
विशेष	,,	
सामान्य (=जाति)	,,	
मूल स्वरूप	,,	
सृष्टिकर्त्ता	,,	
उपादान कारण		

निमित्त कारण	अरस्तू	३८४-३२२
तर्कशास्त्र	,,	
द्रव्य	,,	
गुण	,,	
कर्म	,,	
दिशा	,,	
काल	,,	
परिमाण	,,	
आसन	,,	
स्थिति	,,	

इस दर्शनका भारतीय दर्शनपर क्या प्रभाव पड़ा, यह अगले पृष्ठोंसे मालूम होगा। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना है, कि हेराक्लितु, अफलातूँ, अरस्तूके दर्शनोंको जाननेवाले अनेक यवन भारत में बस गये थे, और वे बुद्धके दर्शनके महत्त्वको अच्छी तरह समझ सकते थे।

यह है समय जब कि यवन-शासित पंजाबमें नागसेन पैदा होते हैं।

३. नागसेनकी जीवनी

नागसेनके जीवनके बारेमें "मिलिन्द प्रश्न"[1]में जो कुछ मिलता है, उससे इतना ही मालूम होता है, कि हिमालय-पर्वतके पास (पंजाब)में कजंगल गाँवमें सोनुत्तर ब्राह्मणके घरमें उनका जन्म हुआ था। पिताके घरमें ही रहते उन्होंने ब्राह्मणोंकी विद्या वेद, व्याकरण आदिको पढ़ लिया था। उसके बाद उनका परिचय उस वक्त वत्तनीय (=वर्त्तनीय) स्थानमें रहते एक विद्वान् भिक्षु रोहणसे हुआ, जिससे नागसेन बौद्ध-विचारोंकी ओर झुके। रोहणके शिष्य बन वह उनके साथ विजम्भवस्तु[2] (=विजृम्भवस्तु)

[1] 'मिलिन्द-प्रश्न', अनुवादक भिक्षु जगदीश काश्यप, १९३७ ई०।

[2] वर्त्तनीय, कजंगल और शायद विजृम्भवस्तु भी स्यालकोटके जिलेमें थे।

होते हिमालयमें रक्षिततल नामक स्थानमें गये। वहीं गुरुने उन्हें उस समयकी रीतिके अनुसार कंठस्थ किये सारे बौद्ध वाङ्मयको पढ़ाया। और पढ़नेकी इच्छासे गुरुकी आज्ञाके अनुसार वह एक बार फिर पैदल चलते वर्त्तनीयमें एक प्रख्यात विद्वान् अश्वगुप्तके पास पहुँचे। अश्वगुप्त अभी इस नये विद्यार्थीकी विद्या बुद्धिकी परख कर ही रहे थे, कि एक दिन किसी गृहस्थके घर भोजनके उपरान्त कायदेके अनुसार दिया जानेवाला धर्मोपदेश नागसेनके जिम्मे पड़ा। नागसेनकी प्रतिभा उसमें खुल गई और अश्वगुप्तने इस प्रतिभा-शाली तरुणको और योग्य हाथोंमें सौंपनेके लिए पटना (=पाटलिपुत्र)के अशोकाराम बिहारमें वास करनेवाले आचार्य धर्मरक्षितके पास भेज दिया। सौ योजनपर अवस्थित पटना पैदल जाना आसान काम न था, किन्तु अब भिक्षु बराबर आते-जाते रहते थे, व्यापारियोंका सार्थ (=कारवाँ) भी एक-न-एक चलता ही रहता था। नागसेनको एक ऐसा ही कारवाँ मिल गया जिसके स्वामीने बड़ी खुशीसे इस तरुण विद्वानको खिलाते-पिलाते साथ ले चलना स्वीकार किया।

अशोकाराममें आचार्य धर्मरक्षितके पास रहकर उन्होंने बौद्ध तत्त्व-ज्ञान और पिटकका पूर्णतया अध्ययन किया। इसी बीच उन्हें पंजाबसे बुलौवा आया, और वह एक बार फिर रक्षिततलपर पहुँचे।

मिनान्दर (=मिलिन्द)का राज्य यमुनासे आमू (वक्षु) दरिया तक फैला हुआ था। यद्यपि उसकी एक राजधानी बलख (वाह्लीक) भी थी, किन्तु हमारी इस परंपराके अनुसार मालूम होता है, मुख्य राजधानी सागल (=स्यालकोट) नगरी थी। प्लूतार्कने लिखा है कि—मिनान्दर बड़ा न्यायी, विद्वान् और जनप्रिय राजा था। उसकी मृत्युके बाद उसकी हड्डियोंके लिए लोगोंमें लड़ाई छिड़ गई। लोगोंने उसकी हड्डियोंपर बड़े-बड़े स्तूप बनवाये। मिनान्दरको शास्त्रचर्चा और बहसकी बड़ी आदत थी, और साधारण पंडित उसके सामने नहीं टिक सकते थे। भिक्षुओंने कहा—'नागसेन! राजा मिलिन्द वादविवादमें प्रश्न पूछकर भिक्षु-संघको तंग करता और नीचा दिखाता है;' जाओ तुम उस राजाका दमन करो।"

नागसेन, संघके आदेशको स्वीकार कर सागल नगरके **असंखेय्य नामक परिवेण** (=मठ)में पहुँचे। कुछ ही समय पहिले वहाँके बड़े पंडित आयुपालको मिनान्दरने चुप कर दिया था। नागसेनके आनेकी खबर शहरमें फैल गई। मिनान्दरने अपने एक अमात्य देवमंत्री (=जो शायद यूनानी दिमित्री है) से नाग-सेनसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की। स्वीकृति मिलनेपर एक दिन "पाँच सौ यवनोंके साथ अच्छे रथपर सवार हो वह असंखेय्य परिवेणमें गया। राजाने नमस्कार और अभिनंदनके बाद प्रश्न शुरू किये। इन्ही प्रश्नोंके कारण इस ग्रंथका नाम "मिलिन्द-प्रश्न" पड़ा। यद्यपि उपलभ्य पाली "मिलिन्द पञ्ह"मे छ परिच्छेद हैं, किन्तु उनमेंसे पहिलेके तीन ही पुराने मालूम होते हैं; चीनी भाषामें भी इन्ही तीन परिच्छेदोंका अनुवाद मिलता है। मिनान्दरने पहिले दिन मठमें जाकर नागसेनसे प्रश्न किये; दूसरे दिन उसने महलमें निमन्त्रण कर प्रश्न पूछे।

४. दार्शनिक विचार

अपने उत्तरमें नागसेनने बुद्धके दर्शनके अनात्मवाद, कर्म या पुनर्जन्म, नाम-रूप (=मन और भौतिक तत्त्व), निर्वाण आदिको ज्यादा विशद करनेका प्रयत्न किया है।

(१) **अनात्मवाद**—मिनान्दरने पहिले बौद्धोंके अनात्मवादकी ही परीक्षा करनी चाही। उसने पूछा[1]—

(क) "भन्ते (स्वामिन्) ! आप किस नामसे जाने जाते हैं ?"

"नागसेन....नामसे (मुझे) पुकारते हैं ?....किन्तु यह केवल व्यवहारके लिए संज्ञा भर है, क्योंकि यथार्थमें ऐसा कोई एक पुरुष (=आत्मा) नही है।"

"भन्ते ! यदि एक पुरुष नही है तो कौन आपको वस्त्र....भोजन देता है ? कौन उसको भोग करता है ? कौन शील(=सदाचार)की रक्षा

[1] मिलिन्द-प्रश्न, २।१ (अनुवाद, पृ० ३०-३४)

करता है ? कौन ध्यान....का अभ्यास करता है ? कौन आर्यमार्गके फल निर्वाणका साक्षात्कार करता है ?....यदि ऐसी बात है तो न पाप है और न पुण्य, न पाप और पुण्यका कोई करनेवाला है....न करानेवाला है।....न पाप और पुण्य....के....फल होते है ?....यदि आपको कोई मार डाले तो किसीका मारना नही हुआ।....(फिर) नागसेन क्या है ?....क्या ये केश नागसेन है ?"

"नहीं महाराज !"

"ये रोयें नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

"ये नख, दाँत, चमड़ा, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा, बुक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुप्फुस, आंत, पतली आंत, पेट, पाखाना, पित्त, कफ, पीब, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, चर्बी, राल, नासामल, कर्णमल, मस्तिष्क नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

"तब क्या आपका रूप (=भौतिक तत्त्व)....वेदना....संज्ञा ....संस्कार या विज्ञान नागसेन है ?"

"नहीं महाराज !"

"....तो क्या....रूप....विज्ञान (=पाँचों स्कंध) सभी एक साथ नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

"....तो क्या....रूप आदिसे भिन्न कोई नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

"भन्ते ! मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया किन्तु 'नागसेन' क्या है इसका पता नही लगा सका। तो क्या नागसेन केवल शब्दमात्र है ? आखिर नागसेन है कौन ?"

"महाराज ! ....क्या आप पैदल चलकर यहाँ आये या किसी सवारीपर ?"

"भन्ते ! . . . . मैं . . . . रथपर आया।"

"महाराज ! . . . . तो मुझे बतावें कि आपका 'रथ' कहाँ है ? क्या हरिस (=ईषा) रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"क्या अक्ष रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"क्या चक्के रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"क्या रथका पंजर. . . . रस्सियाँ. . . . लगाम. . . . चाबुक. . . . रथ है ?"

"नहीं भन्ते !"

"महाराज ! क्या हरीस आदि सभी एक साथ रथ हैं ?"

"नहीं भन्ते !"

"महाराज ! क्या हरीस आदिके परे कही रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"महाराज ! मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया, किन्तु यह पता नहीं लगा कि रथ कहां है ? क्या रथ केवल एक शब्द मात्र है ? आखिर यह रथ है क्या ? आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं है ! महाराज ! सारे जम्बूद्वीप (=भारत)के आप सबसे बडे राजा हैं; भला किससे डरकर आप झूठ बोलते है ?"

"भन्ते नागसेन ! मैं झूठ नही बोलता। हरीस आदि रथके अवयवोंके आधारपर केवल व्यवहारके लिए 'रथ' ऐसा एक नाम बोला जाता है।"

"महाराज ! बहुत ठीक, आपने जान लिया कि रथ क्या है। इसी तरह मेरे केश आदिके आधारपर केवल व्यवहारके लिए 'नागसेन' ऐसा एक नाम बोला जाता है। परन्तु, परमार्थमें 'नागसेन' कोई एक पुरुष विद्यमान नहीं है। भिक्षुणी वज्राने भगवान्‌के सामने इसीलिए कहा था—

'जैसे अवयवोंके आधारपर 'रथ' संज्ञा होती है, उसी तरह (रूप आदि)

स्कंधोंके होनेसे एक सत्त्व (=जीव) समझा जाता है।' "[1]

(ख)[2]—"महाराज ! 'जान लेना' विज्ञानकी पहिचान है, 'ठीकसे समझ लेना' प्रज्ञाकी पहिचान है; और 'जीव' ऐसी कोई चीज नहीं है।"

"भन्ते ! यदि जीव कोई चीज ही नहीं है, तो हम लोगोंमें वह क्या है जो आँखसे रूपोंको देखता है, कानसे शब्दोंको सुनता है, नाकसे गंधोंको सूँघता है, जीभसे स्वादोंको चखता है, शरीरसे स्पर्श करता है और मनसे 'धर्मों'को जानता है।"

'महाराज ! यदि शरीरसे भिन्न कोई जीव है जो हम लोगोंके भीतर रह आँखसे रूपको देखता है, तो आँख निकाल लेनेपर बड़े छेदसे उसे और भी अच्छी तरह देखना चाहिए। कान काट देनेपर बड़े छेदसे उसे और भी अच्छी तरह सुनना चाहिए। नाक काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह सूँघना चाहिए। जीभ काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह स्वाद लेना चाहिए और शरीरको काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह स्पर्श करना चाहिए।"

"नहीं भन्ते ! ऐसी बात नहीं है।"

"महाराज ! तो हम लोगोंके भीतर कोई जीव भी नहीं है।"

(२) कर्म या पुनर्जन्म—आत्माके न माननेपर किये गये भले बुरे कर्मोंकी जिम्मेवारी तथा उसके अनुसार परलोकमें दुःख-सुख भोगना कैसे होगा, मिनान्दरने इसकी चर्चा चलाते हुए कहा।

"भन्ते ! कौन जन्म ग्रहण करता है ?"

"महाराज ! नाम[3] (=विज्ञान) और रूप[4] . . ।"

"क्या यही नाम—रूप जन्म ग्रहण करता है ?"

"महाराज ! यही नाम और रूप जन्म नहीं ग्रहण करता। मनुष्य इस नाम और रूपसे पाप या पुण्य करता है, उस कर्मके करनेसे दूसरा नाम रूप जन्म ग्रहण करता है।"

[1] संयुत्तनिकाय, ५।१०।६ [2] मिलिन्द०, ३।४।४४ (अनुवाद, पृष्ठ ११०) [3] Mind. [4] Matter.

"भन्ते ! तब तो पहिला नाम और रूप अपने कर्मोंसे मुक्त हो गया?"

"महाराज ! यदि फिर भी जन्म नहीं ग्रहण करे, तो मुक्त हो गया; किन्तु, चूँकि वह फिर भी जन्म ग्रहण करता है, इसलिए (मुक्त) नहीं हुआ।"

"....उपमा देकर समझावें।"

a. "आमकी चोरी[1]—कोई आदमी किसीका आम चुरा ले। उसे आमका मालिक पकड़कर राजाके पास ले जाये—'राजन् ! इसने मेरा आम चुराया है'। इसपर वह (चोर) ऐसा कहे—'नहीं, मैंने इसके आमोंको नहीं चुराया है। इसने (जो आम लगाया था) वह दूसरा था, और मैंने जो आम लिये वे दूसरे हैं।....' महाराज ! अब बतावें कि उसे सजा मिलनी चाहिए या नहीं?"

"....सजा मिलनी चाहिए।"

"सो क्यों?"

"भन्ते ! वह ऐसा भले ही कहे, किन्तु पहिले आमको छोड़ दूसरे हीको चुरानेके लिए उसे जरूर सजा मिलनी चाहिए।"

"महाराज ! इसी तरह मनुष्य इस नाम और रूपसे पाप या पुण्य ....करता है। उन कर्मोंसे दूसरा नाम और रूप जन्मता है। इसलिए वह अपने कर्मोंसे मुक्त नहीं हुआ।....

b. "आगका प्रवास—महाराज !....कोई आदमी जाड़ेमें आग जलाकर तापे और उसे बिना बुझाये छोड़कर चला जाये। वह आग किसी दूसरे आदमीके खेतको जला दे....(पकड़कर राजाके पास ले जानेपर वह आदमी बोले—) 'मैंने इस खेतको नहीं जलाया। ....वह दूसरी ही आग थी, जिसे मैंने जलाया था, और वह दूसरी है जिससे....खेत जला। मुझे सजा नहीं मिलनी चाहिए।'.... महाराज ! उसे सजा मिलनी चाहिए या नहीं?"

[1] वहीं, २।२।१४ (अनुवाद, पृष्ठ ५७-६०)

"....मिलनी चाहिए।....उसीकी जलाई हुई आगने बढ़ते-बढ़ते खेतको भी जला दिया।...."

c. "**दीपकसे आग लगना**—महाराज ! कोई आदमी दीया लेकर अपने घरके उपरले छतपर जाये और भोजन करे। वह दीया जलता हुआ कुछ तिनकोंमें लग जाये। वे तिनके घरको (आग) लगा दें, और वह घर सारे गाँवको लगा दे। गाँववाले उस आदमीको पकड़ कर कहें—'तुमने गाँवमें क्यों आग लगाई ?' इसपर वह कहे—'मैंने गाँवमें आग नहीं लगाई। उस दीयेकी आग दूसरी ही थी, जिसकी रोशनीमें मैंने भोजन किया था, और वह आग दूसरी ही थी, जिसने गाँव जलाया।' इस तरह आपसमें झगड़ा करते (यदि) वे आपके पास आवें, तो आप किधर फैसला देंगे ?"

"भन्ते ! गाँववालोंकी ओर....।"

"महाराज ! इसी तरह यद्यपि मृत्युके साथ एक नाम और रूपका लय होता है और जन्मके साथ दूसरा नाम और रूप उठ खड़ा होता है, किन्तु यह भी उसीसे होता है। इसलिए वह अपने कर्मोंसे मुक्त नहीं हुआ।"

d. "**विवाहित कन्या**—महाराज ! कोई आदमी.. रुपया दे एक छोटीसी लड़कीसे विवाह कर, कहीं दूर चला जाये। कुछ दिनोंके बाद वह बढ़कर जवान हो जाये। तब कोई दूसरा आदमी रुपया देकर उससे विवाह कर ले। इसके बाद पहिला आदमी आकर कहे—'तुमने मेरी स्त्रीको क्यों निकाल लिया ?' इसपर वह ऐसा जवाब दे—'मैंने तुम्हारी स्त्रीको नहीं निकाला। वह छोटी लड़की दूसरी ही थी, जिसके साथ तुमने विवाह किया था और जिसके लिए रुपये दिये थे। यह सयानी, जवान औरत दूसरी ही है जिसके साथ कि मैंने विवाह किया है और जिसके लिए रुपये दिये हैं। अब, यदि दोनों इस तरह झगड़ते हुए आपके पास आवें तो आप किधर फैसला देंगे ?"

"....पहिले आदमीकी ओर।....(क्योंकि) वही लड़की तो बढ़कर सयानी हुई।"

(घ)[1]—"भन्ते ! जो उत्पन्न है, वह वही व्यक्ति है या दूसरा ?"

"न वही और न दूसरा ही।....(१) जब आप बहुत बच्चे थे और खाटपर चित्त ही लेट सकते थे, क्या आप अब इतने बडे होकर भी वही हैं ?"

"नहीं भन्ते ! अब मैं दूसरा हो गया हूँ।"

"महाराज ! यदि आप वही बच्चा नहीं है, तो अब आपकी कोई माँ भी नहीं है, कोई पिता भी नहीं है, कोई गुरु भी नही।....क्योंकि तब तो गर्भकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंकी भी भिन्न-भिन्न माताएं होयेंगी। बड़े होनेपर माता भी भिन्न हो जायेगी। शिल्प सीखनेवाला (विद्यार्थी) दूसरा और सीखकर तैयार (हो जानेपर)....दूसरा होगा। अपराध करनेवाला दूसरा होगा और (उसके लिए) हाथ-पैर किसी दूसरेका काटा जायेगा।"

"भन्ते !....आप इससे क्या दिखाना चाहते है ?"....

"महाराज ! मैं बचपनमें दूसरा था और इस समय बड़ा होकर दूसरा हो गया हूँ; किन्तु वह सभी भिन्न-भिन्न अवस्थाएं इस शरीरपर ही घटनेसे एक हीमें ले ली जाती है।....

"(२) यदि कोई आदमी दीया जलावे, तो वह रात भर जलता रहेगा न ?"

"....रातभर जलता रहेगा।"

"महाराज ! रातके पहिले पहरमें जो दीयेकी टेम थी। क्या वही दूसरे या तीसरे पहरमें भी बनी रहती है ?"

"नहीं, भन्ते !"

"महाराज ! तो क्या वह दीया पहिले पहरमें दूसरा, दूसरे और तीसरे पहरमें और हो जाता है ?"

"नहीं भन्ते ! वही दीया सारी रात जलता रहता है।"

[1] वहीं, २।२।६ (अनुवाद, पृ० ४६)

"महाराज ! ठीक इसी तरह किसी वस्तुके अस्तित्वके सिलसिलेमें एक अवस्था उत्पन्न होती है, एक लय होती है—और इस तरह प्रवाह जारी रहता है। एक प्रवाहकी दो अवस्थाओंमें एक क्षणका भी अन्तर नहीं होता; क्योंकि एकके लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण न (वह) वही जीव है और न दूसरा ही हो जाता है। **एक जन्मके अन्तिम विज्ञान (=चेतना)के लय होते ही दूसरे जन्मका प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है।**

(ङ)[1]—"भन्ते ! जब एक **नाम-रूप**में अच्छे या बुरे कर्म किये जाते हैं, तो वे कर्म कहाँ ठहरते हैं ?"

"महाराज ! कभी भी पीछा नहीं छोड़नेवाली छायाकी भाँति वे कर्म उसका पीछा करते हैं।"

"भन्ते ! क्या वे कर्म दिखाये जा सकते हैं, (कि) वह यहाँ ठहरे हैं ?"

"महाराज ! वे इस तरह नहीं दिखाये जा सकते।....क्या कोई वृक्षके उन फलोंको दिखा सकता है जो अभी लगे ही नहीं....?"

(३) नाम और रूप—बुद्धने विश्वके मूल तत्त्वोंको विज्ञान(=नाम) और भौतिक तत्व (=रूप)में बाँटा है, इनके बारेमें मिनान्दरने पूछा—

"भन्ते !....नाम क्या चीज है और रूप क्या चीज ?"

"महाराज ! जितनी स्थूल चीजें हैं, सभी रूप हैं; और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म हैं, सभी नाम हैं।....दोनों एक दूसरेके आश्रित हैं, एक दूसरेके बिना ठहर नहीं सकते। दोनों (सदा) साथ ही होते हैं।.... यदि मुर्गीके पेटमें (बीज रूपमें) बच्चा नहीं हो तो अंडा भी नहीं हो सकता; क्योंकि बच्चा और अंडा दोनों एक दूसरेपर आश्रित हैं। दोनों एक ही साथ होते हैं। यह (सदासे)....होता चला आया है।...."

(४) निर्वाण—मिनान्दरने निर्वाणके बारेमें पूछते हुए कहा[2]—

"भन्ते ! क्या निरोध हो जाना ही निर्वाण है ?"

"हाँ, महाराज ! निरोध(=बन्द) हो जाना ही निर्वाण है।....

[1] वहीं [2] वहीं, ३।१।६ (अनुवाद, पृ० ८५)

सभी....अज्ञानी....विषयोंके उपभोगमें लगे रहते हैं, उसीमें आनन्द लेते हैं, उसीमें डूबे रहते हैं। वे उसीकी धारामें पड़े रहते हैं; बार-बार जन्म लेते, बूढ़े होते, मरने, शोक करते, रोते-पीटते, दुःख बेचैनी और परेशानीसे नहीं छूटते। (वह) दुःख ही दुःखमें पड़े रहते हैं। महाराज! किन्तु ज्ञानी....विषयोंके भोग(=उपादान)में नहीं लगे रहते। इससे उनकी तृष्णाका निरोध हो जाता है। उपादानके निरोधसे **भव**(=आवा-गमन)का निरोध हो जाता है। भवके निरोधसे जन्मना बन्द हो जाता है।....(फिर) बूढ़ा होना, मरना....सभी दुःख बन्द=(निरुद्ध)हो जाते हैं। महाराज! इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।"....

[1]"....(बुद्ध) कहाँ है?"

"महाराज! भगवान् परम निर्वाणको प्राप्त हो गये हैं, जिसके बाद उनके व्यक्तित्वको बनाये रखनेके लिए कुछ भी नहीं रह जाता....।"

"भन्ते! उपमा देकर समझावें।"

"महाराज! क्या होकर-बुझ-गई जलती आगकी लपट, दिखाई जा सकती है....?"

"नहीं भन्ते! वह लपट तो बुझ गई।"

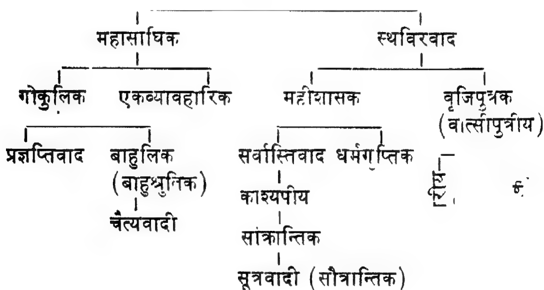
नागसेनने अपने प्रश्नोत्तरोंसे बुद्धके दर्शनमें कोई नई बात नहीं जोड़ी, किन्तु उन्होंने उसे कितना साफ किया यह ऊपरके उद्धरणोंसे स्पष्ट है। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि नागसेनका अपना जन्म हिन्दी-यूनानी साम्राज्य और सभ्यताके केन्द्र स्यालकोट(=सागल)के पास हुआ था, और भारतीय ज्ञानके साथ-साथ यूनानी ज्ञानका भी परिचय रखनेके कारण ही वह मिनान्दर जैसे तार्किकका समाधान कर सके थे। मिनान्दर और नागसेनका यह संवाद इतिहासकी उस विस्तृत घटनाका एक नमूना है, जिसमें कि हिन्दी और यूनानी प्रतिभाएं मिलकर भारतमें नई विचार-धाराओंका आरम्भ कर रही थीं।

[1] वहीं, ३।२।१८ (अनुवाद, पृ० ९१)

तृतीय अध्याय

बौद्ध-सम्प्रदाय

१. बौद्ध धार्मिक संप्रदाय—बुद्ध आत्मवादके सख्त विरोधी थे, फिर साथ ही वह भौतिकवादके भी खिलाफ थे, यह हम बतला चुके हैं। मौर्योंके शासनकालके अन्त तक मगध ही बौद्ध-धर्मका केन्द्र था, किन्तु साम्राज्यके ध्वंसके साथ बौद्ध धर्मका केन्द्र भी कमसे कम उसकी सबसे अधिक प्रभावशाली शाखा (=निकाय)—पूरबसे पश्चिमकी ओरको लेनेपर हटने लगा। इसी स्थान-परिवर्त्तनमें स र्वा स्ति वा द निकाय मगधसे उरुमुंड पर्वत (=गोवर्धन, मथुरा) पहुँचा, और यवन-शासन कालमें पंजाबमें जोर पकड़ते-पकड़ते कनिष्कके समय ईसाकी पहिली सदीके मध्यमे गंधार-कश्मीर उसके प्रधान केन्द्र बन गये। यही जगह थी, जहाँ वह यूनानी विचार, कला आदिके संपर्कमें आया। अशोकके समय (२६६ ई० पू०) तक बौद्ध धर्म निम्न संप्रदायोंमें बँट चुका था[१]—



[१] **देखो मेरी "पुरातत्त्व-निबंधावली", पृ० १२१ (और कथावत्थु-अट्ठकथा भी)।**

अर्थात्—बुद्धनिर्वाण (४८३ ई० पू०)के बादके सौ वर्षों (३८० ई० पू०)में स्थविरवाद (=बूढ़ोंके रास्ते वाले) और महासांघिक जो दो **निकाय** (=संप्रदाय) हुए थे, वह अगले सवा सौ वर्षोंमें बँटकर महासांघिकके छै और स्थविरवादके बारह कुल अठारह निकाय हो गए—सर्वास्तिवाद स्थविरवादियोंके अन्तर्गत था। इन अठारह निकायोंके पिटक (सूत्र, विनय, अभिधर्म) भी थे, जो सूत्र और विनयमें बहुत कुछ समानता रखते थे, किन्तु अभिधर्म पिटकमें मतभेद ही नहीं बल्कि उनकी पुस्तकें भी भिन्न थी। स्थविरवादियोंने इन प्राचीन निकायोंमेंसे निम्न आठके कितने ही मतोंका अपने अभिधर्मकी पुस्तक 'कथावत्थु'में खंडन किया है—

महासांघिक, गोकुलिक, काश्यपीय; भद्रयाणिक, महीशासक, वात्सीपुत्रीय, सर्वास्तिवाद, साम्मितीय।

कथावत्थु को अशोकके गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्सकी कृति बतलाया जाता है, किन्तु उसमें वर्णित २१८ कथावस्तुओं (=वादके विषयों)में सिर्फ ७३ उन पुराने निकायोंसे संबंध रखते हैं[1] जो कि मोग्गलिपुत्त तिस्सके समय तक मौजूद थे—अर्थात् उसका इतना ही भाग मोग्गलिपुत्तका बनाया हो सकता है। बाकी "कथावस्तु" अशोकके बादके निम्न आठ निकायोंसे संबंध रखती है—

(१) अन्धक, (२) अपरशैलीय, (३) पूर्वशैलीय, (४) राजगिरिक, (५) सिद्धार्थक, (६) वैपुल्यवाद, (७) उत्तरापथक, (८) हेतुवाद।

२. बौद्ध दार्शनिक संप्रदाय—इन पुराने निकायोंके दार्शनिक विचारोंमें जानेकी जरूरत नहीं, क्योंकि वह "दिग्दर्शन"के कलेवरसे बाहरकी बात है, किन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि बौद्धोंके जो चार दार्शनिक संप्रदाय प्रसिद्ध हैं, उनमें (१) सर्वास्तिवाद और (२) सौत्रान्तिक दर्शन तो पुराने अठारह निकायोंसे संबंध रखते थे, बाकी (३) योगाचार और (४) माध्यमिक अठारह निकायोंसे बहुत पीछे ईसाकी

[1] देखो वहीं, पृ० १२६, टिप्पणी भी।

पहिली सदीमें आदिम रूपमें आए। इनके विकासके क्रमके बारेमें हम "महायान बौद्ध धर्मकी उत्पत्ति"[1]में लिख चुके हैं। महासांघिकोंमें एक निकायका नाम था **चैत्यवाद**, जिनका केन्द्र आन्ध्र-साम्राज्यमें धान्यकटकका महाचैत्य (=महास्तूप) था, इसीसे इनका नाम ही चैत्यवादी पडा। आन्ध्र साम्राज्यके पच्छिमी भाग (वर्त्तमान महाराष्ट्र) में साम्मितीय निकायका जोर था। इन्ही दोनों निकायोंसे आगे चलकर महायानका विकास निम्न प्रकार हुआ—[2]

ई० पू० ३ सदी साम्मितीय=चैत्यवादी (महासांघिक)

अन्धक (=आध्रवाले)

ई० पू० १ सदी वैपुल्य पूर्वशैलीय अपरशैलीय राजगिरिक सिद्धार्थक

ईसवी १ सदी महायान

योगाचारका जबर्दस्त समर्थक "लंकावतार-सूत्र" वैपुल्यवादी पिटकसे संबंध रखता है। नागार्जुनके माध्यमिक (=शून्य) वादके समर्थनमें प्रज्ञापारमिताएं तथा दूसरे सूत्र रचे गये, किन्तु नागार्जुनको अपने दर्शनकी पुष्टिके लिए इनकी जरूरत न थी, उन्होंने तो अपने दर्शनको **प्रतीत्य-समुत्पाद** (-विच्छिन्न=प्रवाहरूपेण उत्पत्ति)पर आधारित किया था।

कथावत्थुके "अर्वाचीन" निकायोंमें हमने उत्तरापथक और हेतुवादका भी नाम पढ़ा है। **उत्तरापथक** कश्मीर-गंधारका निकाय था इसमें सन्देह नहीं। किन्तु **हेतुवाद**के स्थानके बारेमें हमें मालूम नहीं। अफलातूंके विज्ञानवादको प्रतीत्य-समुत्पादसे जोड़ देनेपर वह आसानीसे योगाचार विज्ञानवाद बन जाता है, किन्तु अभी हमारे पास इससे अधिक प्रमाण नहीं

[1] देखो वहीं, पृ० १२६, टिप्पणी भी। [2] वहीं, पृ० १२७

है, कि उसके दार्शनिक असंगका जन्म और कर्म स्थान पेशावर (गंधार) था। नागार्जुनके बाद बौद्धदर्शनके विकासमें सबसे जबर्दस्त हाथ असंग और वसुबंधु इन दो पठान-भाइयोंका था। नागार्जुनसे एक शताब्दी पहिलेके जबर्दस्त बौद्ध विचारक अश्वघोषको यदि हम लें, तो उनका भी कर्मक्षेत्र पेशावर (गंधार) ही मालूम होता है। इससे भी बौद्ध दर्शनपर यूनानी प्रभावका पड़ना जरूरी मालूम होता है। अश्वघोषको महायानी अपने आचार्योंमें शामिल करते हैं, और इसके सबूतमें "महायानश्रद्धोत्पाद" ग्रंथको उनकी कृतिके तौरपर पेश करते हैं; किन्तु जिन्होंने "बुद्धचरित", "सौन्दरानंद", "सारिपुत्त-प्रकरण" जैसे काव्य नाटकोंको पढ़ा है, तिब्बती भाषामें अनूदित उनके सर्वास्तिवादी सूत्रोंपर व्याख्याएं देखी हैं, और जो "सर्वास्तिवादी आचार्यों"को चैत्य बनाकर अर्पित करनेवाले तथा त्रिपिटककी व्याख्या ("विभाषा")के लिए सर्वास्तिवादी आचार्योंकी परिषद् बुलानेवाले महाराज कनिष्कपर विचार करते हैं, वह अश्वघोषको सर्वास्तिवादी[1] स्थविर छोड़ दूसरा कह नहीं सकते।

अस्तु! यूनानी तथा शक-कालके इन बौद्ध प्राचीन निकायोंपर यदि और रोशनी डाली जा सके; तो हमें उन्हींके नहीं, भारतीय दर्शनके एक भारी विकासके इतिहासके बारेमें बहुत कुछ मालूम हो सकेगा। किन्तु, चीनी तिब्बती अनुवाद, तथा गोबीकी मरुभूमि हमारी इस विषयमें कितनी मदद कर सकती है, यह आगेके अनुसन्धानके विषय हैं। अभी हमें इससे ज्यादा नहीं कहना है कि भारतीय और यूनानी विचारधाराका जो समागम गंधारमें हो रहा था, उसमें अश्वघोष अपने आधुनिक ढंगके काव्यों और नाटकोंको ही नहीं बल्कि नवीन दर्शनको भी यूनानसे मिलानेवाली कड़ी थे। उनसे किसी तरह नागार्जुनका संबंध हुआ।

[1] पोइ-खङ् (तिब्बत)में सुरक्षित एक संस्कृत ताल-पत्रकी पुस्तककी पुष्पिकामें अश्वघोषको सर्वास्तिवादी भिक्षु भी लिखा मिला है। (देखो J. B. O. R. S. में मेरे प्रकाशित सूचीपत्रोंको)।

फिर नागार्जुनने वह दर्शन-चक्रप्रवर्त्तन किया, जिसने भारतीय दर्शनोंको एक अभिनव सुव्यवस्थित रूप दिया।

३. नागार्जुन (१७५ ई०)का शून्यवाद

(१) **जीवनी**—नागार्जुनका जन्म विदर्भ (=बरार)में एक ब्राह्मणके घर हुआ था। उनके बाल्यके बारेमे हम अनुमान कर सकते हैं, कि वह एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे, ब्राह्मणोंके ग्रंथोंका गम्भीर अध्ययन किया था। भिक्षु बननेपर उन्होंने बौद्ध ग्रंथोंका भी उसी गंभीरताके साथ अध्ययन किया। आगे चलकर उन्होंने श्रीपर्वत (=नागार्जुनी-कोंडा, गुन्टूर)को अपना निवास-स्थान बनाया; जो कि उनकी ख्याति, तथा समय बीतनेके साथ गढ़े जानेवाले पँवारोंके कारण सिद्ध-स्थान बन गया। नागार्जुन वैद्यक और रसायन शास्त्रके भी आचार्य बतलाये जाते हैं। उनका "अष्टांगहृदय" अब भी तिब्बतके वैद्योंकी सबसे प्रामाणिक पुस्तक है। किन्तु नागार्जुनकी सिद्धाई तथा तंत्र-मंत्रके बनाने बढ़ानेकी बातें जो हमें पीछेके बौद्ध साहित्यमें मिलती है, उनसे हमारे दार्शनिक नागार्जुनका कोई संबंध नहीं।

नागार्जुन आंध्रराजा गौतमीपुत्र यज्ञश्री (१६६-१९६ ई०)के सम-कालीन थे, विन्टरनिट्ज़[१]का यह मत युक्तियुक्त मालूम होता है।

नागार्जुनके नामसे वैसे बहुतसे ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, किन्तु उनकी असली कृतियाँ हैं—

(१) माध्यमिककारिका, (२) युक्तिषष्ठिका, (३) प्रमाणविध्वं-सन, (४) उपायकौशल्य, (५) विग्रहव्यावर्त्तनी[२]।

इनमें सिर्फ दो—पहिली और पाँचवी ही मूल संस्कृतमें उपलब्ध है।

[१] History of Indian literature, Vol. II, pp. 346-48.

[२] Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna, Vol. XXIII में मेरे द्वारा संपादित।

(२) **दार्शनिक विचार**—नागार्जुनने **विग्रह व्यावर्त्तनी**में विरोधी तर्कोंका खंडन करके कान्टके **वस्तु-सार**से उलटे वस्तु-शून्यता—**वस्तुओंके** भीतर कोई स्थिर तत्त्व नहीं, वह विच्छिन्न प्रवाह मात्र है—सिद्धि की है।

(क) शून्यता—नागार्जुनको कारिका शैलीका प्रवर्त्तक कहा जाता है। कारिकामें पद्यकी-सी स्मरण करने, तथा सूत्रकी भाँति अधिक बातोंको थोड़े शब्दोंमें कहनेकी सुविधा होती है। कमसे कम नागार्जुनके तीन ग्रंथ (१, २, ५) कारिकाओंमें ही हैं। "विग्रहव्यावर्त्तनी" में ७२ कारिकाएं हैं, जिनमें अन्तिम दो माहात्म्य और नमस्कार श्लोक हैं, इसलिए मूलग्रंथ सत्तर ही कारिकाओंका हुआ। वह शून्यतापर है, इसलिए जान पड़ता है विग्रह-व्यावर्त्तनका ही दूसरा नाम "शून्यता सप्तति" है। इन कारिकाओंपर आचार्यने स्वयं सरल व्याख्या की है।

नागार्जुनने ग्रंथके आदिमें नमस्कार श्लोक और ग्रंथ-प्रयोजन नहीं दिया है, जो कि पीछेके बौद्ध अबौद्ध ग्रंथोंमें सर्वमान्य परिपाटी सी बन गई देखी जाती है। नागार्जुनने ७१वीं कारिकामें शून्यताका माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है—

"जो इस शून्यताको समझ सकता है, वह सभी अर्थोंको समझ सकता है।
जो शून्यताको नहीं समझता, वह कुछ भी नहीं समझ सकता॥"[1]

इसकी व्याख्यामें आचार्यने बतलाया है, कि जो शून्यताको समझता है, वह प्रतीत्य-समुत्पाद (=विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पत्ति) को समझ सकता है, प्रतीत्य-समुत्पाद समझनेवाला चारों **आर्यसत्यों**को समझ सकता है। चारों सत्योंके समझनेपर उसे तृष्णा-निरोध (=निर्वाण) आदि पदार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है। प्रतीत्य-समुत्पाद जाननेवाला जान सकता है कि क्या धर्म है, क्या धर्मका हेतु और क्या धर्मका फल है। वह जान सकता है कि अधर्म, अधर्म-हेतु, अधर्म-फल क्या हैं, क्लेश (चित्तमल), क्लेश-हेतु, क्लेश-वस्तु क्या है। जिसे यह सब मालूम है, वह जान सकता है

[1] **"प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
प्रभवति न तस्य किंचित् न भवति शून्यता यस्य॥"**

प्रमाण-विध्वंसनमें नागार्जुनने प्रमाणवादका खंडन किया है, नागार्जुन प्रमाणवादका खंडन करते भी परमार्थके अर्थमें ही उसका खंडन करते हैं, व्यवहार-सत्यमें वह उससे इन्कार नहीं करते। लेकिन प्रमाण जैसा प्रबल खंडन उन्होंने अपने ग्रंथोंमें किया, उसका परिणाम यह हुआ कि माध्यमिक दर्शन व्यवहार-सत्यवादी वस्तुस्थितिपोषक दर्शन होनेकी जगह सर्वध्वंसक नास्तिवाद बन गया[१]। "प्रमाण-विध्वंसन"में अक्षपादकी तरह ही प्रमाण, प्रमेय आदि अठारह पदार्थोंका संक्षिप्त वर्णन है। इसी तरह **उपाय-कौशल्य**में भी शास्त्रार्थ-संबंधी बातों—निग्रह-स्थान, **जाति** आदि—के बारेमें कहा गया है, जोकि हमें अक्षपादके सूत्रोंमें भी मिलता है। उपाय-कौशल्यका अनुवाद चीनी-भाषामें ४७२ ई० में हुआ था। इनके बारेमें हम यही कह सकते हैं कि अनुयायियोंमेंसे किसीने दूसरेके ग्रंथसे लेकर इसे अपने आचार्यके ग्रंथमें जोड़ दिया है।

(ख) माध्यमिक-कारिकाके विचार—दर्शनकी दृष्टिसे नागार्जुनकी कृतियोंमें **विग्रह-व्यावर्त्तनी** और **माध्यमिक-कारिका**का ही स्थान ऊँचा है। नागार्जुनका शून्यतासे अभिप्राय है, प्रतीत्य-समुत्पाद, यह हम "विग्रह व्यावर्त्तनी"में देख आये हैं। नागार्जुन प्रतीत्य-समुत्पादके दो अर्थ लेते हैं—(१) प्रत्यय (=हेतु या कारण)से उत्पत्ति, "सभी वस्तुएं प्रतीत्य समुत्पन्न हैं" का अर्थ है, सभी वस्तुएं अपनी उत्पत्तिमें=अपनी सत्ताको पानेके लिए दूसरे प्रत्यय या हेतुपर आश्रित (=पराश्रित) है। (२) प्रतीत्य-समुत्पादका दूसरा अर्थ क्षणिकता है, सभी वस्तु क्षणके बाद नष्ट हो जाती हैं, और उनके बाद दूसरी नई वस्तु या घटना क्षण भरके लिए आती है, अर्थात् उत्पत्ति विच्छिन्न-प्रवाह सी है। प्रतीत्य-समुत्पाद-को ही मध्यम-मार्ग कहा जाता है, यह कह चुके हैं, और यह भी कि बुद्ध न आत्मवादी थे न भौतिकवादी, बल्कि उनका रास्ता इन दोनोंके बीचका (=मध्यम-मार्ग) था—वह "विच्छिन्न प्रवाह"को मानते थे।

[१] सर्वदर्शन-संग्रह, बौद्ध-दर्शन।

आत्मवादियोंकी सतत विद्यमानताके विरुद्ध उन्होंने विच्छिन्न या प्रतीत्य-को रखा, और भौतिकवादियोंके सर्वथा उच्छेद (=विनाश)के विरुद्ध प्रवाहको रखा।

पराश्रित उत्पादके अर्थको लेकर नागार्जुन साबित करना चाहते हैं, कि जिसकी उत्पत्ति, स्थिति या विनाश है, उसकी परमार्थ सत्ता कभी नहीं मानी जा सकती।

माध्यमिक दर्शन वस्तुसत्ता के परमार्थ रूपपर विचार करते हुए कहता है—

"न सत् है, न अ-सत् है, न सत्-और-अ-सत् दोनों है, न सत्-असत्-दोनों नहीं है।"

"कारक है, यह कर्मके निमित्त (=प्रत्यय) में ही कह सकते है, कर्म है यह कारकके निमित्तमें; यह छोड़ दूसरा (सत्ताकी) सिद्धिका कारण हम नहीं देखते हैं।"[1]

इस प्रकार कारक और कर्मकी सत्यता अन्योन्याश्रित है, अर्थात् स्वतंत्र रूपसे दोनोंमें एककी भी सत्ता सिद्ध नहीं है। फिर स्वयं असिद्ध वस्तु दूसरेको क्या सिद्ध करेगी? इसी न्यायको लेकर नागार्जुन कहते हैं, कि किसीकी सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती—सत्ता और असत्ता भी इसी तरह एक दूसरेपर आश्रित है, इसलिए ये अलग-अलग, दोनों या दोनोंके रूपमें भी नहीं सिद्ध किये जा सकते।

कर्त्ता और कर्मका निषेध करते हुए नागार्जुन फिर कहते हैं—

"सत्-रूप कारक सत्-रूप कर्मको नहीं करता, (क्योंकि) सत्-रूपसे क्रिया नहीं होती, अतः कर्मको कर्त्ताकी जरूरत नहीं।

सद्-रूपके लिए क्रिया नहीं, अतः कर्त्ताको कर्मकी जरूरत नहीं।"[2]

इस प्रकार परस्पराश्रित सत्तावाली वस्तुओंमें कर्त्ता, कर्म, कारण, क्रियाको सिद्ध नहीं किया जा सकता।

[1] माध्यमिक-कारिका ६२ [2] वहीं ५८, ५९

"कहीं भी कोई सत्ता न स्वतः है, न परतः, न स्वतः परतः दोनों, और न बिना हेतुके ही है।"[1]

कार्य कारण संबंधका खंडन करते हुए नागार्जुनने लिखा है—

"यदि पदार्थ सत् है, तो उसके लिए प्रत्यय (=कारण) की ज़रूरत नहीं। यदि अ-सत् है तो भी उसके लिए प्रत्ययकी ज़रूरत नहीं।

(गदहेके सींगकी भाँति) अ-सत् पदार्थके लिए प्रत्ययकी क्या ज़रूरत? सत् पदार्थको (अपनी सत्ताके लिए) प्रत्ययकी क्या ज़रूरत?"[2]

उत्पत्ति, स्थिति और विनाशको सिद्ध करनेके लिए कार्य-कारण, सत्ता-असत्ता आदिके विवेचनमें पड़कर आखिर हमें यही मालूम होता है कि वह परस्पराश्रित है; ऐसी अवस्थामें उन्हें सिद्ध नहीं किया जा सकता। बौद्ध-दर्शनमें पदार्थोंको संस्कृत (=कृत) और अ-संस्कृत (अ-कृत) दो भागोंमें बाँटकर सारी सत्ताओंको संस्कृत और निर्वाणको असंस्कृत कहा गया है। नागार्जुनने इस संस्कृत असंस्कृत विभागपर प्रहार करते हुए कहा है—

"उत्पत्ति-स्थिति-विनाशके सिद्ध होनेपर संस्कृत नहीं (सिद्ध) होगा। संस्कृतके सिद्ध हुए बिना अ-संस्कृत कैसे सिद्ध होगा?"[3]

जगत् और उसके पदार्थोंकी मरुमरीचिका बतलाते हुए नागार्जुनने लिखा है[4]—

"(रेगिस्तानकी) लहरको पानी समझकर भी यदि वहाँ जाकर पुरुष 'यह जल नहीं है' समझे तो वह मूढ़ है। उसी तरह मरीचि समान (इस) लोकको 'है' समझनेवालेका 'नहीं है' यह मोह भी मोह होनेसे युक्त नहीं है।"

जिस तरह पराश्रित उत्पाद (=प्रतीत्य-समुत्पाद) होनेसे किसी वस्तुको सिद्ध, असिद्ध, सिद्ध-असिद्ध, न-सिद्ध-न-अ-सिद्ध नहीं किया जा सकता, उसी तरह प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ विच्छिन्न प्रवाह रूपसे उत्पाद लेनेपर वहाँ

[1] मध्य० का० ४ [2] वहीं २२ [3] वहीं ५६ [4] वहीं ५६

भी कार्य, कारण, कर्म, कर्त्ता आदि व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि उनमेंसे एक वस्तु दूसरेके बिलकुल उच्छिन्न हो जानेपर अस्तित्वमें आती है।

(ग) शिक्षायें—आन्ध्रवंशी राजाओंकी पदवी शातवाहन (शालिवाहन[1] भी) होती थी। तत्कालीन शातवाहन राजा (यज्ञश्री गौतमी पुत्र) नागार्जुनका "सुहृद्" था। यह सुहृद् राजा साधारण नहीं भारी राजा था, यह नागार्जुनसे चार सदी बाद हुए बाणके **हर्षचरित**के इस वाक्यसे पता लगता है[2]—"नागार्जुन नामक भिक्षुने उस एकावली (हार)को नागराजसे माँगा और पाया भी। (फिर) उसे (अपने) **सुहृद्** तीन समुद्रोंके स्वामी शातवाहन नामक नरेन्द्रको दिया।"

यहाँ शातवाहनको तीनों समुद्रों (अरब सागर, दक्षिण-भारत सागर, बंग-खाड़ी)का स्वामी तथा नागार्जुनका सुहृद् बतलाया गया है। नागार्जुन जैसा प्रतिभाशाली विद्वान् जिसके राज्य (=विदर्भ)मे पैदा हुआ तथा रहता हो, वह उससे क्यों नहीं सौहार्द प्रदर्शन करेगा? नागार्जुनने अपने सुहृद् शातवाहन राजाको एक शिक्षापूर्ण पत्र "सुहृद्-लेख" लिखा था, जिसका अनुवाद तिब्बती तथा चीनी दोनों भाषाओंमें अब भी सुरक्षित है। इस लेखमें नागार्जुनने जो शिक्षायें अपने सुहृद्को दी है, उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

"६. धनको चंचल और असार समझ धर्मानुसार उसे भिक्षुओं, ब्राह्मणों, गरीबों और मित्रोंको दो; दानसे बढ़कर दूसरा मित्र नहीं है।"

[1] बैस राजपूत अपनेको सालवाहन वंशज तथा पैठन नगरसे आया बतलाते हैं। पैठन या प्रतिष्ठान (हैदराबाद रियासत) नगर शातवाहन राजाओंकी राजधानी थी।

[2] "....तामेकावलीं....तस्मान्नागराजात् नागार्जुनो नाम.... भिक्षुरभिक्षत् लेभे च।... त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहननाम्ने नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।"

—हर्षचरित ७

"७. निर्दोष, उत्तम, अमिश्रित, निष्कलंक, शील (=सदाचार) को (कार्यरूपमें) प्रकट करो; सभी प्रभुताओंका आधार शील है, जैसे कि चराचरका आधार धरती है।

"२१. दूसरेकी स्त्रीपर नज़र न दौड़ाओ, यदि देखो तो आयुके अनुसार उसे मा, बहिन या बेटीकी तरह समझो।

"२६. तुम जगको जानते हो; संसारकी आठ स्थितियों—लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—में समान भाव रखो, क्योंकि वह तुम्हारे विचारके विषय नहीं है।

"३७. किन्तु उस एक स्त्री (अपनी पत्नी) का परिवारकी अधिष्ठात्री देवीकी भाँति सम्मान करना, जो कि बहिनकी भाँति मंजुल, मित्रकी भाँति विजयिनी, माताकी भाँति हितैषिणी, सेवककी भाँति आज्ञाकारिणी है।

"४६. यदि तुम मानते हो कि 'मैं रूप (=भौतिकतत्त्व) नहीं हूँ', तो इससे तुम समझ जाओगे कि रूप आत्मा नहीं है, आत्मा रूपमें नहीं है, रूप आत्मा (=मेरे) में नहीं बसता। इसी तरह दूसरे (वेदना आदि) चार स्कंधोंके बारेमें भी जानोगे।

"५०. ये स्कंध न इच्छासे, न कालसे, न प्रकृतिसे, न स्वभावसे, न ईश्वरसे, और न बिना हेतुके पैदा होते हैं; समझो कि वे **अविद्या** और **तृष्णा**से उत्पन्न होते हैं।

"५१. जानो कि धार्मिक क्रिया-कर्म (=शीलव्रतपरामर्श) झूठा दर्शन (=सत्कायदृष्टि) और संशय (विचिकित्सा) में आसक्ति तीन बेड़ियाँ (=संयोजन)[1] हैं।. . ."

नागार्जुनका दर्शन—शून्यवाद—वास्तविकताका अपलाप करता है। दुनियाको शून्य मानकर उसकी समस्याओंके अस्तित्वसे इनकार करनेके लिए इससे बढ़कर दर्शन नहीं मिलेगा? इसीलिए आश्चर्य

[1] **देखो संगीति-परियायसुत्त (दी० नि०, ३।१०) "बुद्धचर्या", पृष्ठ ५६०**

नहीं, यदि ऐसा दार्शनिक सम्राट् यज्ञश्री गौतमीपुत्रका घनिष्ट मित्र (=सुहृद्) था।

४. योगाचार और दूसरे बौद्ध-दर्शन

माध्यमिक और योगाचार महायानसे संबंध रखनेवाले दर्शन हैं, जब कि सर्वास्तिवाद और सौत्रान्तिक हीनयान (=स्थविरवाद) से संबंध रखते हैं। इन चारों बौद्ध दर्शनोंको यदि आकाशसे धरतीकी ओर लायें तो वह इस प्रकार मालूम होते हैं—

वाद	नाम	आचार्य
१. शून्यवाद	माध्यमिक	नागार्जुन आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, भाव्य, बुद्धपालित
२. विज्ञानवाद	योगाचार	असंग, वसुबंधु, दिङ्-नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित
३. बाह्य-अर्थवाद	सौत्रान्तिक	
४. बाह्य-आभ्यन्तर-अर्थवाद	सर्वास्तिवाद	संघभद्र, वसुबंधु (का अभिधर्मकोश)

योगाचार-दर्शनके मूल बीज वैपुल्यसूत्रोंमें मिलते हैं। उसके लंकावतार, सन्धि-निर्मोचन, आदि सूत्र बाह्य जगत्के अस्तित्वसे इन्कार करते हुए विज्ञान (=अभौतिक तत्त्व, मन) को एकमात्र पदार्थ मानते हैं। "जो क्षणिक नहीं वह सत् ही नहीं" इस सूत्रका अपवाद बौद्धदर्शनमें हो नहीं सकता, इसलिए योगाचार विज्ञान भी क्षणिक है। दूसरी कितनीही विचार-धाराओंकी भाँति योगाचारके प्रथम प्रवर्तकके बारेमें भी हमें कुछ नहीं मालूम है। चौथी सदी तक यह दर्शन जिस किसी तरह चलता रहा, किन्तु चौथी सदीके उत्तरार्द्धमें असंग और वसुबंधु दो दार्शनिक भाई पेशावरमें पैदा हुए, जिनके प्रौढ़ ग्रंथोंके कारण यह दर्शन अत्यन्त प्रबल और प्रसिद्ध हो गया।

योगाचार योगावचर (=योगी) शब्दसे निकला है, जो कि पुराने पिटकमें भी मिलता है, किन्तु यहाँ यह दार्शनिक सम्प्रदायके नामके तौर

पर प्रयुक्त होता है। इस नामके पडनेका एक कारण यह भी है कि योगाचार दर्शन-प्रतिपादक आर्य असंगका मौलिक महान् ग्रंथ "योगाचारभूमि"[1] है। असंगके बारेमें हम आगे कहेंगे। यहाँ नागार्जुन और उनसे पहिले जैसा विज्ञानवाद माना जाता था और जिसपर गंधार-प्रवासी यूनानियों द्वारा अफलातूनी दर्शनका प्रभाव जरूर पड़ा था, उसके बारेमे कुछ कहते हैं।

"**आलय-विज्ञान** (समुद्र)मे प्रवृत्तिविज्ञानकी तरंग उत्पन्न होती है।"[2]

विश्वके मूल तत्त्वको इस दर्शनकी परिभाषामे आलयविज्ञान कहा गया है। विज्ञान-समुद्रमें जो पाँचों इन्द्रियाँ और मनके—ये छै विज्ञान उत्पन्न होते हैं, उन्हें **प्रवृत्ति-विज्ञान** कहते हैं। —

"जैसे पवन-रूपी प्रत्यय (=हेतु)से प्रेरित हो समुद्रमे नाचती हुई तरंगें पैदा होती है, और उनके (प्रवाहका) विच्छेद नही होता। उसी तरह विषय-रूपी पवनसे प्रेरित चित्र-विचित्र नाचती हुई विज्ञान-तरंगोंके साथ **आलय** समुद्र सदा क्रियापरायण रहता है।"[3]

अर्थात् भीतरी ज्ञेय पदार्थ (=अभौतिक विज्ञान) पदार्थ है, वही बाहरकी तरह दिखलाई पड़ता है। स्कंध, प्रत्यय (=हेतु), अणु, भौतिक तत्व, सभी विज्ञान मात्र है। यह **आलयविज्ञान** भी प्रतीत्य-समुत्पन्न (विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न), क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील है। क्षणिकताके कारण उसे हर वक्त नया रूप धारण करते रहना पड़ता है, जिसके ही कारण यह जगत्-वैचित्र्य है।

सर्वास्तिवादका वही सिद्धान्त है, जिसे हम बुद्धके दर्शनमें बतला आये हैं, वह बाह्य **रूप**, आन्तरिक **विज्ञान** दोनोंकी प्रतीत्य-समुत्पन्न सत्ताको स्वीकार करता है।

सौत्रान्तिक अपनेको बुद्धके सूत्रान्तों (सूत्रों या उपदेशों)का अनुयायी बतलाते हैं। वह बाह्य विज्ञानवादसे उलटे बाह्यार्थवादी है अर्थात् क्षणिक **रूप** ही मौलिक तत्व है।

[1] देखो असंग, पृष्ठ ७०४–३७ [2] लंकावतारसूत्र ५१ [3] वहीं

चतुर्थ अध्याय

बौद्ध दर्शनका चरम विकास (६०० ई०)

असंग (३५० ई०)

भारतीय दर्शनको अपने अन्तिम विकासपर पहुँचानेके लिए पहिला जबर्दस्त प्रयत्न असंग और वसुबंधु दो पेशावरी पठान भाइयोंने किया। बड़े भाई असंगने योगाचार भूमि', उत्तरतन्त्र' जैसे ग्रन्थोंको लिखकर विज्ञानवादका समर्थन किया। छोटे भाई वसुबंधुकी प्रतिभा और भी बहु-मुखी थी। उन्होंने एक ओर वैभाषिक-सम्मत तथा बुद्धके दर्शनमें बहु-सम्मत अपने सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ अभिधर्मकोष तथा उसपर एक बड़ा भाष्य' लिखा; दूसरी ओर विज्ञानवादके संबंधमें विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकी विंशिका (बीस कारिकायें) और त्रिंशिका (तीस कारिकायें) लिख अपने बड़े भाईके कामको और सुव्यवस्थित रूपमें दार्शनिकोंके सामने पेश किया। तीसरा काम उनका सबसे महत्त्वपूर्ण था **वादविधान** नामक न्याय-ग्रंथका लिखना, भारतीय न्यायशास्त्रको नागार्जुनकी पैनी दृष्टिसे मिली प्रेरणाको और नियमबद्ध करना; और सबसे बड़ी बात थी "भारती मध्ययुगीन न्यायके पिता" दिग्नाग जैसे शिष्यको पढ़ाकर अब तकके किये गये प्रयत्नको एक बड़े प्रवाहके रूपमें ले जानेके लिए तैयार करना।

बौद्धोंके विज्ञानवाद—क्षणिक विज्ञानवाद—के शंकराचार्य और उनके दादा गुरु गौडपाद कितने ऋणी हैं, यह हम बतलानेवाले हैं। वस्तुतः गौड-

---

'ये दोनों ग्रंथ चीनी और तिब्बती अनुवादके रूपमें पहिले भी मौजूद थे, किन्तु उनके संस्कृत मूल मुझे तिब्बतमें मिले, उनकी फोटो और लिखित प्रतियाँ भारत आ चुकी हैं। अभिधर्मकोशको अपनी वृत्तिके साथ मैं पहिले संपादित कर चुका हूँ।

पादकी मांडूक्य-कारिका "अलात शान्ति प्रकरण" प्रच्छन्न नहीं प्रकट रूपसे एक बौद्ध विज्ञानवादी ग्रंथ है। बौद्ध विज्ञानवाद और असंगका एक दूसरेके साथ कितना संबंध है, यह इसीसे मालूम हो सकता है, कि विज्ञानवाद अपने नामकी अपेक्षा "योगाचार दर्शन"के नामसे ज्यादा प्रसिद्ध है, और योगाचार शब्द असंगके सबसे बड़े ग्रंथ "योगाचार-भूमि"से लिया गया है।

१. जीवनी

असंगका जन्म पेशावरके एक ब्राह्मण (पठान) कुलमें हुआ था। उनके छोटे भाई वसुबंधु बौद्ध जगत्के प्रमुख दार्शनिकोंमें थे। वसुबंधुके कितने ही मौलिक ग्रंथ कालकवलित हो गये। उनका अभिधर्मकोश बहुत प्रौढ़ ग्रंथ है, मगर वह सर्वास्तिवाद दर्शनका एक सुशृंखलित विवेचन मात्र है, इसलिए हमने उसके बारेमें विशेष नहीं लिखा। वसुबंधुने अभिधर्मकोशपर विस्तृत भाष्य लिखा है, जो सौभाग्यसे तिब्बतकी यात्राओंमें मुझे संस्कृतमें मिल गया, और प्रकाशित होनेकी प्रतीक्षामें फोटो रूपमें पड़ा है। अपने बड़े भाई असंगके विज्ञानवादपर "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" नामके "विंशिका" और "त्रिंशिका" नामसे बीस और तीस कारिकावाले दो प्रकरण भी मिलकर प्रकाशित हो चुके हैं। वसुबंधु "मध्यकालीन न्याय-शास्त्र"के पिता दिग्नागके गुरु थे, और उन्होंने स्वयं भी "वादविधान" नामसे न्यायपर एक ग्रंथ लिखा था किन्तु शिष्यकी प्रतिभाके सामने गुरुकी कृतियाँ ढँक गईं। वसुबंधु समुद्रगुप्तके पुत्र चंद्रगुप्त (विक्रमादित्यके) अध्यापक रह चुके थे, और इस प्रकार वह ईसवी चौथी शताब्दीके उत्तरार्धमें मौजूद थे।[1]

असंगकी जीवनीके बारेमें हम इससे अधिक नहीं जानते कि वह योगाचार दर्शनके प्रथम आचार्य थे, कई ग्रंथोंके लेखक, वसुबंधुके बड़े भाई और पेशावरके रहनेवाले थे। वह ३५०मे जरूर मौजूद रहे होंगे। यह समय नागार्जुनसे पौन सदी पीछे पड़ता है। नागार्जुनके ग्रंथ भारतीय न्यायशास्त्रके प्राचीनतम ग्रंथ हैं—जहाँ तक अभी हमारा ज्ञान जाता है—लेकिन,

[1] देखो मेरी "वादन्याय" और "अभिधर्मकोश"की भूमिकाएँ।

नागार्जुनको असंग-वसुबंधुसे मिलानेवाली कड़ी उसी तरह हमें मालूम नहीं है, जिस तरह यूनानी दर्शनके कितने ही वादोंको भारतीय दर्शनों तक सीधे पहुँचनेवाली कड़ियाँ अभी उपलब्ध नहीं हुई हैं। असंगको वादशास्त्र (= न्याय)का काफी परिचय था, यह हमें "योगाचार-भूमि"से पता लगता है।

२. असंगके ग्रंथ

महायानोत्तर तंत्र, सूत्रालंकार, योगाचार-भूमि-वस्तुसंग्रहणी, बोधि-सत्त्व-पिटकाववाद ये पाँच ग्रंथ अभी तक हमें असंगकी दार्शनिक कृतियोंमें मालूम हैं; इनमें पिछले दोनोंका पता तो "योगाचार-भूमि"से ही लगा है। पहिले तीनों ग्रंथोंके तिब्बती या चीन अनुवादोंका पहिलेसे भी पता था।

योगाचार-भूमि—असंगका यह विशाल ग्रंथ निम्न सत्रह भूमियोंमें विभक्त है—

१. ..विज्ञान भूमि	१०. श्रुतमयी भूमि
२. मन भूमि	११. चिन्तामयी भूमि
३. सवितर्क-सविचारा भूमि	१२. भावनामयी भूमि
४. अवितर्क-विचारमात्रा भूमि	१३. श्रावक भूमि[1]
५. अवितर्क-अविचारा भूमि	१४. प्रत्येकबुद्ध भूमि
६. समाहिता भूमि	१५. बोधिसत्त्व भूमि[1]
७. असमाहिता भूमि	१६. सोपधिका भूमि
८. सचित्तका भूमि	१७. निरुपधिका भूमि[2]
९. अचित्तका भूमि	

[1] श्रावक भूमि और बोधिसत्त्व-भूमि तिब्बतमें मिली "योगाचारभूमि" की तालपत्र पोथी (दसवीं सदी)में नहीं हैं। बोधिसत्त्वभूमिको प्रो० उ० वोगीहारा (जापान १९३०) प्रकाशित कर चुके हैं। अलग भी मिल चुकी है।

[2] "योगाचारभूमि"में आचार्यने किन-किन विषयोंपर विस्तृत विवेचन किया है। यह निम्न विषयसूचीसे मालूम हो जायेगा—

भूमि १

§ १. (पाँच इन्द्रियोंके) विज्ञानोंकी भूमियां ।

§ २. पाँच इन्द्रियोंके विज्ञान (=ज्ञान)

१. आँखका विज्ञान
   (१) विज्ञानोंके स्वभाव
   (२) उनके आश्रय (सहभू, समनन्तर, बीज)
   (३) उनके आलंबन (Objects) वर्ण, संस्थान, विज्ञप्ति (=क्रिया)
   (४) उनके सहाय (=सहयोगी)
   (५) कर्म
      (क) अपने विषयके आलंबनकी क्रिया (=विज्ञप्ति)
      (ख) अपने स्वरूप (=स्वलक्षण)की विज्ञप्ति
      (ग) वर्तमान कालकी विज्ञप्ति
      (घ) एक क्षणकी विज्ञप्ति
      (ङ) मनवाले विज्ञानकी अनुवृत्ति (=पीछे आना)
      (च) भलाई बुराईकी अनुवृत्ति

२. कानका विज्ञान (स्वभाव आदिके साथ)

३. घ्राणका विज्ञान (,,)

४. जिह्वाका विज्ञान (,,)

५. काया (=त्वक् इन्द्रिय)का विज्ञान(स्वभाव आदिके साथ)

§ ३. पाँचों विज्ञानोंका उत्पन्न होना

§ ४. पाँचों विज्ञानोंके साथ संबद्ध चित्त

§ ५. पाँचों विज्ञानोंके सहाय आदिकी 'एक क़ाफ़िलेवाला' आदि होनेकी उपमा ।

भूमि २

मनकी भूमि

§ १. मनके स्वभाव आदि

१. मनका स्वभाव

२. मनका आश्रय

३. मनका आलंबन (=विषय)

४. मनका सहाय (=सहयोगी)

५. मनके विशेष कर्म
   (१) आलंबन विज्ञप्ति
   (२) विशेष कर्म
      (क) विषयकी विकल्पना

(ख) उपनिध्यान
(ग) मत्त होना
(घ) उन्मत्त होना
(ङ) सोना
(च) जागना
(छ) मूच्छित होना
(ज) मूर्च्छासे उठना
(झ) कायिक, वाचिक काम कराना
(ञ) विरक्त होना
(ट) विरागका हटना
(ठ) भली अवस्थाकी जड़का कटना
(ड) भली अवस्थाकी जड़का जुड़ना

२. मनका शरीरसे च्युति और उत्पत्ति
(१) शरीरसे च्युति (=छूटना, मृत्यु)
(२) एक शरीरसे दूसरे शरीरके बीचकी अवस्थाका सूक्ष्मकायिक मन (=अन्तराभव)

३. दूसरे शरीरमें उत्पत्ति
(१) उत्पत्तिवाले स्थानमें जानेकी अभिलाषा
(२) गर्भमें प्रवेश करना
(क) गर्भाधानमें सहायक
(ख) गर्भाधानमें बाधक
(a) योनिका दोष
(b) बीजका दोष
(c) पुरविले कर्मका दोष
(ग) अन्तराभवकी दृष्टिमें परिवर्तन
(घ) पापी और पुण्यात्माके जन्मकुल
(ङ) गर्भाशयमें आलय-विज्ञान (-प्रवाह) जुड़नेका ढंग
(च) गर्भकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ
(a) कलल-अवस्था
(b) अर्बुद-अवस्था
(c) पेशी ,,
(d) घन ,,
(e) प्रशाख ,,
(f) केश - रोम - नखकी अवस्था
(g) इन्द्रियोंका प्रकट होना
(h) स्त्री - पुरुष - लिंग प्रकट होना
(छ) शरीरमें विकार

होना
(a) रंगमें विकार
(b) चमड़ेमें विकार
(c) अंगमें विकार
(ज) गर्भके स्त्री या पुरुष होनेकी पहिचान
(३) गर्भसे निकलना
(४) शिशु-पोषण

§३. जगत्का संहार और प्रादुर्भाव
१. संहार (=संवर्तन) का क्रम
(१) देवताओंकी आयु
(२) कल्पका परिमाण
२. प्रादुर्भाव (=विवर्त्त)
(१) भिन्न-भिन्न लोकोंका प्रादुर्भाव
(क) ब्रह्मलोक आदिका प्रादुर्भाव
(ख) पृथिवीका प्रादुर्भाव
(a) सुमेरु आदि ,,
(b) नरक ,,
(c) द्वीपों ,,
(d) नागलोक ,,
(e) यक्षलोक ,,
(f) वैश्रवण आदि चारों महाराजोंका प्रादुर्भाव
(g) हिमालयकाप्रादुर्भाव
(h) अनवतप्तसर (= मानसरोवर) ,,
(i) सुमेरुके पार्श्वों ,,

§४. सत्त्वोंका प्रादुर्भाव
१. प्रथम कल्पके सत्त्व (= मानव)
(१) उनके आहार
(२) मनके विकारसे आहार-ह्रास
(३) राजाका पहिला चुनाव
२. ग्रह नक्षत्र आदिका प्रादुर्भाव
(१) सत्त्वोंके प्रकाशका लोप; सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिका प्रादुर्भाव
(२) चन्द्रमा और सूर्यकी गतियाँ
(३) ऋतुओंमें परिवर्तन
(४) चन्द्रमाका घटना बढ़ना

§५. हजार चूड़ावाला लोक (Local Universe) (बुद्धका क्षेत्र)

§६. रूप (=जड़ तत्त्व)
१. रूपका बीज (=मूलरूप)
२. महाभूत
३. परमाणु (=अवयव)

४. द्रव्य चौदह
५. भूतोंका साथ या अलग रहना

§ ७. चित्त

§ ८. चित्त-संबंधी (=चैतस) तत्त्व (विज्ञानकी उत्पत्ति)

१. चैतस मनस्कार आदि
(१) उनके स्वभाव
(२) उनके कर्म

§ ९. तीन काल (जन्म, जरा आदि)

§ १०. छ प्रकारके विज्ञान

१. विज्ञानोंके चार प्रत्यय
(१) प्रत्यय
(२) प्रत्ययोंके भेद

२. आयतनोंके छ भेद
(१) इन्द्रियोंके भेद
(क) चक्षुके भेद
(ख) श्रोत्र ,,
(ग) घ्राण ,,
(घ) जिह्वा ,,
(ङ) काया ,,
(च) मन ,,
(२) आलंबनोंके छ भेद
(क) रूपके भेद
(ख) शब्द ,,
(ग) गन्ध ,,
(घ) रस के भेद
(ङ) स्पर्श ,,
(च) धर्म ,,

§ ११. नव वस्तुवाले बुद्ध-वचन

भूमि ३, ४, ५

(सवितर्क-सविचारा भूमि, अवितर्क-विचारमात्रा भूमि, अवितर्कअविचारा भूमि)

(सवितर्क-सविचारा भूमि)

§ १. धातुकीप्रज्ञप्तिसे

१. धातुके प्रज्ञापन द्वारा
(१) काम (=स्थूल) धातु (=लोक)
(२) रूप धातु
(३) आरूप्य धातु

२. परिमाणके प्रज्ञापन द्वारा
(१) शरीरका परिमाण
(२) आयुका परिमाण

३. भोगके प्रज्ञापन द्वारा
(१) दुःखभोग
(i) नरक
(a) महानरक (आठ)
(b) छोटे (=सामन्त) नरक (चार)
(c) ठंडे नरक (आठ)
(d) प्रत्येक नरक

(ख) तिर्यक्योनि
(ग) प्रेतयोनि
(घ) मनुष्ययोनि
(ङ) देवयोनि
(२) सुख-भोग
(क) नरक-योनिमें
(ख) तिर्यक् (=पशु-पक्षी) योनिमें
(ग) मनुष्य-योनिमें (चक्रवर्ती बनकर)
(घ) देव-योनिमें
(a) स्वर्गमें इन्द्र और देवपुर, उत्तरकुरु और असुर
(b) रूपलोकके देवता
(c) अरूपलोकके देवता
(३) दुःख सुख विशेष
(४) आहारभोग
(५) परिभोग
४. उपपत्ति (=जन्म) के प्रज्ञापन द्वारा
५. आत्मभाव
६. हेतु और फलकी व्यवस्था
(१) हेतु और फल (=कार्य) के लक्षण
(२) हेतु-प्रत्ययके अधिष्ठान
(३) हेतु-प्रत्ययके भेद
(क) हेतुके भेद
(ख) प्रत्ययके भेद
(ग) फलके भेद
(७) हेतु-प्रत्यय-फलव्यवस्था
(क) हेतु-प्रज्ञापन
(ख) प्रत्यय-प्रज्ञापन
(ग) फल-प्रज्ञापन
(घ) हेतु-व्यवस्था
§ २. लक्षण-प्रज्ञप्तिसे
१. शरीर आदि
(१) शरीर
(२) आलंबन (=विषय)
(३) आकार
(४) समुत्थान
(५) प्रभेद
(६) विनिश्चय
(७) प्रवृत्ति
२. वितर्क-विचारा गतिके भेदसे
(१) नारकोंकी गति
(२) प्रेत और तिर्यकोंकी गति
(३) देवोंकी गति
(क) कामलोकके देव
(ख) प्रथमध्यायनकी भूमि वाले देव

§ ३. योनिशोमनस्कारकी प्रज्ञप्तिसे
१. अधिष्ठान
२. वस्तु
३. एषणा
४. परिभोग
५. प्रतिपत्ति

§ ४. अयोनिशोमनस्कार प्रज्ञप्तिसे
१. दूसरोंके वाद (=मत)
(१) सद्वाद (सांख्य)
(२) अनभिव्यक्ति-वाद (सांख्य और व्याकरण)
(३) द्रव्यसद्वाद (सर्वास्तिवादी)
(४) आत्मवाद (उपनिषद्)
(५) शाश्वतवाद (कात्यायन)
(६) पूर्वकृत हेतुवाद (जैन)
(७) ईश्वरादि-कर्त्तावाद (नैयायिक)
(८) हिंसाधर्मवाद (याज्ञिक और मीमांसक)
(९) अन्तानन्तिकवाद
(१०) अमराविक्षेपवाद (बेलट्ठिपुत्त)
(११) अहेतुकवाद (गोशल)
(१२) उच्छेदवाद (लोकायत)
(१३) नास्तिकवाद (केशकम्बल)
(१४) अग्रवाद (ब्राह्मण)
(१५) शुद्धिवाद (,,)
(१६) ज्योतिषशकुन (=कौतुक-मंगल) वाद

§ ५. संक्लेश-प्रज्ञप्तिसे
१. क्लेश (=चित्तके मल)
(१) क्लेशोंके स्वभाव
(२) क्लेशोंके भेद
(३) क्लेशोंके हेतु
(४) क्लेशोंकी अवस्था
(५) क्लेशोंके मुख
(६) क्लेशोंकी अतिशयता
(७) क्लेशोंके विपर्यास
(८) क्लेशोंके पर्याय
(९) क्लेशोंके आदीनव
२. कर्म
३. जन्म
(१) कर्मोंके भेद
(२) कर्मोंकी प्रवृत्ति

§ ६. प्रतीत्यसमुत्पाद

भूमि ६
(समाहिता भूमि)

§ १. ध्यान
१. नाम-गिनाई

(१) ध्यान
(२) विमोक्ष
(३) समाधि
(४) समापत्ति

२. व्यवस्थान

§ २. विमोक्ष

§ ३. समाधि

§ ४. समापत्ति

भूमि ७

(असमाहिता भूमि)

भूमि ८, ९

अचित्तका भूमि

भूमि १०

सचित्तका भूमि

(श्रुतमयी भूमि)

पाँच विद्याएं-

§ १. अध्यात्मविद्या

१. वस्तुप्रज्ञप्ति

(१) सूत्र वस्तु
(२) विनय वस्तु
(३) मातृका वस्तु

२. संज्ञाभेद प्रज्ञप्ति

(१) पद
(२) भ्रान्ति
(३) प्रपंच
(४) स्थिति
(५) तत्त्व
(६) शुभ
(७) वर
(८) प्रशम
(९) प्रकृति
(१०) युक्ति
(११) संकेत
(१२) अभिसमय

३. बुद्ध-शासनके अर्थमें प्रज्ञप्ति

४. बुद्ध- नके ज्ञेयोंका अधि

§ २. चिकित्सा विद्या

§ ३. हेतु (=वाद) विद्या

१. वाद

(१) वाद
(२) प्रतिवाद
(३) विवाद
(४) अपवाद
(५) अनुवाद
(६) अववाद

२. वादके अधिकरण

३. वादके अधिष्ठान (दस)

(१) दो प्रकारके साध्य
(२) आठ प्रकारके साधन

(क) प्रतिज्ञा
(ख) हेतु

(ग) उदाहरण
(घ) सारूप्य
(a) लिंगमें सादृश्य
(b) स्वभावमें सादृश्य
(c) कर्ममें सादृश्य
(d) धर्ममें सादृश्य
(e) हेतुफल (=कार्य-कारण) में सादृश्य
(ङ) वैरूप्य
(च) प्रत्यक्ष
(a) अ-परोक्ष
(b) अनभ्यूहित अनभ्यूह्य
(c) अ-भ्रान्त
(भ्रान्तियाँ—संज्ञा, संख्या, संस्थान, वर्ण, कर्म, चित्त दृष्टिसे संबंध रखनेवाली)
(प्रत्यक्षके भेद—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मन-प्रत्यक्ष, लोक-प्रत्यक्ष, शुद्ध (=योगि)-प्रत्यक्ष
अनुमान
(a) लिंगसे
(b) स्वभावसे
(c) कर्मसे
(d) धर्मसे
(e) हेतु-फल (=कार्य-कारण) से
(ज) आप्तागम (=शब्द)
४. वादके अलंकार
(१) अपने और पराये वादकी अभिज्ञता
(२) वाक्-कर्म सम्पन्नता (=भाषण-पटुता)
(क) अग्राम्य भाषण
(ख) लघु (=मित)-भाषण
(ग) ओजस्वी भाषण
(घ) पुर्वापरसंबद्ध भाषण
(ङ) अच्छे अर्थोंवाला भाषण
(३) विशारद होना
(४) स्थिरता
(५) दाक्षिण्य (=उदारता)
५. वादका निग्रह
(१) कथात्याग
(२) कथासाद
(३) कथादोष
(क) बुरा वचन
(ख) संरब्ध (=कुपित) वचन
(ग) अ-गमक वचन

(घ) अ-मित वचन
(ङ) अनर्थ-युक्त वचन
(च) अ-काल वचन
(छ) अ-स्थिर वचन
(ज) अ-दीप्त वचन
(झ) अ-प्रबद्ध वचन

६. वाद-निःसरण
(१) गुणदोष-परीक्षा
(२) परिषत्-परीक्षा
(३) कौशल्य (=नैपुण्य)-परीक्षा

७. वादमें उपकारक बातें

§ ४. शब्द-विद्या
१. धर्म-प्रज्ञप्ति
२. अर्थ-प्रज्ञप्ति
३. पुद्गल-प्रज्ञप्ति
४. काल-प्रज्ञप्ति
५. संख्या-प्रज्ञप्ति
६. अधिकरण-प्रज्ञप्ति

§ ५. शिल्प-कर्मस्थान विद्या

भूमि ११

(चिन्तामयी भूमि)

§ १. स्वभावशुद्धि

§ २. ज्ञेयों (=प्रमेयों)का संचय
१. सद् (वस्तु)
(१) स्वलक्षण सत्
(२) सामान्यलक्षण सत्
(३) संकेतलक्षण सत्
(४) हेतुलक्षण सत्
(५) फल(=कार्य)-लक्षण सत्

२. असद् (वस्तु)
(१) अनुत्पन्न असत्
(२) निरुद्ध असत्
(३) अन्योन्य असत्
(४) परमार्थ असत्

३. अस्तित्व
४. नास्तित्व

§ ३. धर्मोंका संचय
१. सूत्रार्थोंका संचय
२. गाथार्थोंका संचय
(यहाँ पिटकोंकी सैकड़ों गाथा-ओंका संग्रह है)

भूमि १२

(भावनामयी भूमि)

§ १. स्थानतः संग्रह
१. भावनाके पद
२. भावना-उपनिषत्
३. योग-भावना
४. भावना-फल

§ २. अंगतः संग्रह
१. अभिनिर्वृत्ति-संपद्

२. सद्धर्मश्रवण-संपद्
(१) ठीक उपदेश करना
(२) ठीक सुनना
(३) निर्वाण-प्रमुखता
(४) चित्त-मुक्तिको परिपक्व बनानेवाली प्रज्ञाका परिपाक
(५) प्रतिपक्ष भावना

भूमि १३

(श्रावक भूमि)

भूमि १४

(प्रत्येकबुद्ध भूमि)

§ १. गोत्र
१. मन्द-रजवाला गोत्र
२. मन्द-करुणावाला गोत्र
३. मध्य-इन्द्रियवाला गोत्र

§ २. मार्ग

§ ३. समुदागम
१. गैंडेकी सींग जैसा अकेला विहरनेवाला
२. जमातके साथ विहरनेवाला

§ ४. चार

भूमि १५

(बोधिसत्त्व भूमि)

भूमि १६

(उपाधि-सहिता भूमि)
तीन प्रज्ञप्तियोंसे

१. भूमि-प्रज्ञप्ति
२. उपशम-प्रज्ञप्ति
३. उपधि-प्रज्ञप्ति
(१) प्रज्ञप्ति उपधि
(२) परिग्रह उपधि
(३) स्थिति प्रज्ञप्ति
(४) प्रवृत्ति प्रज्ञप्ति
(५) अन्तराय प्रज्ञप्ति
(६) दुःख प्रज्ञप्ति
(७) रति प्रज्ञप्ति
(८) अन्य प्रज्ञप्ति

भूमि १७

(उपधि-रहिता भूमि)

१. भूमि-प्रज्ञप्तिसे
२. निर्वृति-प्रज्ञप्तिसे
(१) व्युपशमा निर्वृति
(२) अव्याबाध-निर्वृति
३. निर्वृति-पर्यायविज्ञप्तिसे

"योगाचार भूमि" (संस्कृत) को महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य सम्पादित कर रहे हैं।

३. दार्शनिक विचार

असंग क्षणिक विज्ञानवादी थे। यह विज्ञानवाद असंगके पहिले भी "लंकावतार सूत्र", "संधिनिर्मोचन सूत्र" जैसे महायान सूत्रोंमें मौजूद था। इन सूत्रोंको बुद्धवचन कहा जाता है, मगर अधिकांश महायान-सूत्रोंकी भाँति यह बुद्धके नामपर बने पीछेके सूत्र हैं, लंकावतार सूत्रका, बुद्धने दक्षिणमें लंका (=सीलोन) द्वीपके पर्वत (समन्तकूट ?)पर उपदेश दिया था। वस्तुत: उसे दक्षिण न ले जा उत्तरमें गंधारकी पर्वतावलीमें ले जाना अधिक युक्तियुक्त है। बौद्धोंका विज्ञानवाद बुद्धके "सब्बं अनिच्चं" (=सब अनित्य है) या क्षणिकवादका अफ्लातूँके (स्थिर) विज्ञान-वादके साथ मिश्रण मात्र है, और यह मिश्रण उसी गंधारमें किया गया, जहाँ यूनानियोंकी कलाके मिश्रण द्वारा गंधार मूर्त्तिकलाने अवतार लिया। विज्ञानवाद विज्ञानको ही परमार्थतत्त्व मानता है, यह बतला आये हैं, और यह भी कि वह पाँच इन्द्रियोंके पाँच विज्ञानों तथा छठे मन-विज्ञानके अति-रिक्त एक सातवें **आलयविज्ञान**को मानता है। यही **आलयविज्ञान** वह तरंगित समुद्र है, जिससे तरंगोंकी भाँति विश्वकी सारी जड़-चेतन वस्तुएं प्रकट और विलीन होती रहती हैं।

यहाँ हम असंगके दार्शनिक विचारोंको उनकी योगाचार-भूमिके आधार पर देते हैं। स्मरण रहे "योगाचार-भूमि" कोई सुसंबद्ध दार्शनिक ग्रंथ नहीं है, वह बुद्धघोषके "विसुद्धिमग्ग" (=विशुद्धिमार्ग)की भाँति ज्यादा-तर बौद्ध सदाचार, योग तथा धर्मतत्त्वका विस्तृत विवेचन है। असंगने अपने इस तरुण समकालीनकी भाँति बुद्धकी किसी एक गाथाको आधार बनाकर अपने ग्रंथको नहीं लिखा है। "गाथार्थ-प्रविचय"[1]में जरूर १७८ गाथाएं—हीनयान महायान दोनों पिटकोंकी—एकत्रित कर दी हैं। बुद्धघोषकी भाँति असंगने भी सूत्रोंकी भाषा-शैलीका इतना अधिक अनुकरण किया है, कि

[1] योगाचारभूमि (श्रुतमयीभूमि १०)

आज वक्त भ्रम होने लगता है कि, हम अभिसंस्कृत संस्कृतके कालमें न हो पिटक-कालकी किसी पुस्तकको संस्कृत-शब्दान्तरके रूपमें पढ़ रहे हैं। बुद्धघोष अपने ग्रंथको पालीमें लिख रहे थे, जिसे वसुबंधु-कालिदास-कालीन संस्कृतकी भाँति संस्कृत बननेका अभी मौका नहीं मिला था, इसलिए बुद्धघोष पालिकी भाषा-शैलीका अनुकरण करनेके लिए मजबूर थे; मगर असंगको ऐसी कोई मजबूरी न थी; न वह अपनी कृतिको बुद्धके नामसे प्रकट करनेके लिए ही इच्छुक थे। फिर, उन्होंने क्यों ऐसी शैलीको स्वीकार किया, जिसमें किसी बातको संक्षेपसे कहा ही नहीं जा सकता ? संभव है, सूत्रोंकी शैली से परिचित अपने पाठकोंके लिए आसान करनेके ख्यालसे उन्होंने ऐसा किया हो।

हम यहाँ "योगाचार भूमि"का पूरा सक्षेप नहीं देना चाहते, इसलिए उसमे आये असंगके ज्ञेय (=प्रमेय), विज्ञानवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु (=वाद)विद्या, परवाद-खंडन और द्रव्य-परमाणु-संबंधी विचारोंको देने ही पर सन्तोष करते है।

(१) ज्ञेय (=प्रमेय) विषय

[1]ज्ञेय कहते है परीक्षणीय पदार्थको। ये चार प्रकारके होते हैं, सत् या भाव रूप, दूसरा असत् या अभाव रूप—अस्तित्व और नास्तित्व।

(क) सत्—यह पाँच प्रकारका होता है; (१) स्वलक्षण(=अपने स्वरूपमें) सत्; (२) सामान्यलक्षण (=जाति आदिके रूपमें) सत्; (३) संकेतलक्षण (=संकेत किये रूपमें) सत्; (४) हेतु लक्षण (=इष्ट-अनिष्ट आदिके हेतुके रूपमे) सत्; (५) फल लक्षण (=परिणामके रूपमे) सत्।

(ख) असत्—यह भी पाँच प्रकारका है। (१) अनुत्पन्न (=जो पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ, अतएव) असत्; (२) निरुद्ध (=जो उत्पन्न

[1] **'योगाचारभूमि' (चिन्तामयी भूमि ११)**

हो कर निरुद्ध या नष्ट हो गया, अतएव) असत्; (३) अन्योन्य (= गाय घोड़ा नहीं, घोडा गाय नहीं, इस तरह एक दूसरेके रूपमें) असत्; (४) परमार्थ (=मूलमें जानेपर) असत्; और (५) (=बंध्या-पुत्र की भाँति) अत्यन्त असत्।

(ग) अस्तित्व—यह भी पाँच प्रकारका होता है—(१) परिनिष्पन्नलक्षण—जो अस्तित्व कि परमार्थतः है (जैसे कि असंगके मतमें विज्ञान, भौतिकवादियोंके मतमें मूल भौतिकतत्त्व); (२) परतंत्रलक्षण अस्तित्व प्रतीत्यसमुत्पन्न ("अमुकके होनेके बाद अमुक अस्तित्वमें आता है") अस्तित्वको कहते है; (३) परिकल्पितलक्षण अस्तित्व है, संकेत (Convention) वश जिसको माना जाये; (४) विशेषलक्षण है काल, जन्म, मृत्यु आदिके संबंधसे माना जानेवाला अस्तित्व; और (५) अवक्तव्यलक्षण अस्तित्व वह है, जिसे "हाँ" या "नहीं" में दो टूक नहीं कहा जा सके (जैसे बौद्ध दर्शनमे पुद्गल=चेतनाको स्कन्धोंसे न अलग कहा जा सकता, न एक ही कहा जा सकता)।

(घ) नास्तित्व—यह पाँच प्रकारका होता है—(१) परमार्थरूपेण नास्तित्व; (२) स्वतंत्ररूपेण नास्तित्व; (३) सर्वेसर्वारूपसे नास्तित्व; (४) अविशेष रूपसे नास्तित्व और (५) अवक्तव्य रूपसे नास्तित्व।

परमार्थतः सत्, असत्, अस्तित्व या नास्तित्वको बतलानेके लिए असंगने **परमार्थ-गाथा**के नामसे महायान-सूत्रोंकी कितनी ही गाथाएँ उद्धृत की हैं। इनमे (१) वस्तुओंके अपने भीतर किसी प्रकारके स्थिर तत्त्वकी सत्ताको इन्कार करते हुए, उन्हें **शून्य** (=सार-शून्य) कहा गया है, बाह्य और मानस तत्त्वोंको सार-शून्य कहते हुए उन्हें क्षणिक (=क्षण क्षण विनाशी) बतलाया गया है; और यह भी कि (३) कोई (ईश्वर आदि) जनक और नाशक नहीं हैं, बल्कि जगतीके सारे पदार्थ स्वरस (=स्वभावतः) भंगुर है। रूप (=Matter), वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंमें स्थिरताका भास सिर्फ भ्रममात्र है, वस्तुतः वे फेन, बुलबुले, मृगमरीचिका, कदली-गर्भ तथा मायाकी भाँति निस्सार

हैं।[1]—

"आध्यात्मिक (=मानसजगत) शून्य है, बाह्य भी शून्य है।

ऐसा कोई (आत्मा) भी नहीं है, जो शून्यताको अनुभव करता ॥३॥

अपना (कोई) आत्मा ही नहीं है, (यह आत्माकी कल्पना) उलटी कल्पना है। यहाँ कोई सत्त्व या आत्मा नहीं है, ये (सारे) धर्म (=पदार्थ) अपने ही अपने कारण हैं ॥४॥

सारे संस्कार (=उत्पन्न पदार्थ) क्षणिक हैं।.. ॥५॥....

उसे कोई दूसरा नहीं जन्माता और न वह स्वयं उत्पन्न होता है। प्रत्ययके होनेपर पदार्थ (=भाव) पुराने नहीं बिल्कुल नये-नये जनमते हैं ॥८॥ न दूसरा इसे नाश करता है, और न स्वय नष्ट होता है। प्रत्यय (=पूर्वकारण)के होनेपर (ये पदार्थ) उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हो स्वरस ही क्षणभगुर है ॥६॥.. **रूप** (=भौतिकतत्त्व) फेनके पिंड समान है, **वेदना** (स्कन्ध) बुद्बुद जैसी ॥१७॥ **संज्ञा** (मृग)-मरीचिका सदृशी है, **संस्कार** कदली जैसे, और **विज्ञान**को माया-समान सूर्यवंशज (=बुद्ध)ने बतलाया है ॥१८॥"

(२) विज्ञानवाद

(क) आलयविज्ञान—बाह्य-आभ्यन्तर, जड़-चेतन—जो कुछ जगत् है, सब विज्ञानका परिणाम है। विज्ञान-समष्टिको **आलयविज्ञान**, कहते हैं, इसीसे वीचि-तरंगकी भांति जगत् तथा उसकी सारी वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं। इस विश्व-विज्ञान[2] या आलय-विज्ञानसे जैसे जड़-जगत् उत्पन्न हुआ, उसी तरह, वैयक्ति-विज्ञान (=प्रवृत्ति विज्ञान)—पाँचों इन्द्रियोंके विज्ञान और छठाँ मन पैदा हुआ।

(ख) पाँच इन्द्रिय-विज्ञान—इन्द्रियोंके आश्रयसे जो विज्ञान (=चेतना) पैदा होता है, वह इन्द्रिय-विज्ञान है। अपने आश्रयों चक्षु

[1] योगाचार-भूमि, (चिन्तामयी भूमि ११) [2] देखो, रोश्द, दर्शन० २४०

(=आँख) आदि पाँचों इंद्रियोंके अनुसार, इन्द्रिय-विज्ञान भी पाँच प्रकारके होते हैं।—

(a) **चक्षु-विज्ञान**[1] (i) स्वभाव—चक्षु (=आँख)के आश्रय (=सहारे)से जो विज्ञान प्राप्त होता है, वह चक्षु-विज्ञान है। यह है चक्षु-विज्ञानका **स्वभाव** (=स्वरूप)।

(ii) **आश्रय**—चक्षु-विज्ञानके आश्रय तीन हैं : चक्षु, जो कि साथ-साथ अस्तित्वमें आता तथा विलीन होता है, अतएव **सहभू** आश्रय है; मन जो इस विज्ञान (की सन्तति)का बादमें आश्रय होता है, अतएव **समनन्तर** आश्रय है; रूप-इन्द्रिय, मन तथा सारे जगत्का बीज जिसमें मौजूद रहता है, वह **सर्वबीजक** आश्रय है **आलय-विज्ञान**। इन तीनों आश्रयोंमें चक्षु रूप (=भौतिक) होनेसे रूपी आश्रय है, और बाकी अरूपी।

(iii) **आलंबन** या विषय है—वर्ण (=रंग), **संस्थान** (=आकृति) और **विज्ञप्ति** (=क्रिया)। (a) **वर्ण** हैं—नील, पीत, लाल, सफेद छाया, धूप, प्रकाश, अन्धकार, मंद्र, धूम, रज, महिका और नभ। (b) **संस्थान** हैं—लम्बा, छोटा, वृत्त, परिमंडल, अणु, स्थूल, सात, विसात, उन्नत और अवनत। (c) **विज्ञप्ति** है—लेना, फेंकना सिकोड़ना, फैलाना, ठहरना, बैठना, लेटना, दौड़ना इत्यादि।

(iv) **सहाय**—चक्षु-विज्ञानके साथ पैदा होनेवाले एक ही आलंबन-के चैतसिक धर्म है।

(v) **कर्म**—छे हैं : (१) स्वविषय-अवलंबी, (२) स्वलक्षण, (३) वर्तमान काल; (४) एक क्षण; (५) शुद्ध (=कुशल) अशुद्ध मनके विज्ञान कर्मके उत्थान, इन दो आकारोंसे अनुवृत्ति; (६) इष्ट या अनिष्ट फलका ग्रहण।

(b-e) **श्रोत्र आदि विज्ञान**—इसी तरह श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काया (=त्वग्) इन्द्रियोंके इन्द्रिय-विज्ञान हैं।

[1] योगाचार-भूमि (१)

(ग) **मन-विज्ञान**—यह छठा-विज्ञान है। इसके स्वभाव आदि हैं—

(a) **स्वभाव**—चित्त, मन और विज्ञान इसके स्वरूप (=स्वभाव) हैं। सारे बीजों (=मूल कारणों) वाला आश्रय स्वरूप **आलय-विज्ञान** चित्त है, (२) मन सदा अविद्या, "मैं आत्मा हूँ" इस दृष्टि, अस्मिमान और तृष्णा (=शोपनहारकी तृष्णा) इन चार क्लेशों (=चित्तमलों) से युक्त रहता है। (३) विज्ञान जो आलम्बन (=विषय) क्रियामें उपस्थित होता है।

(b) **आश्रय**—मन समनन्तर-आश्रय है, अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंके विज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जानेके अनन्तर वही इन विज्ञानोंका आश्रय होता है; बीज-आश्रय तो वही सारे बीजोंका रखनेवाला **आलय-विज्ञान** है।

(c) **आलम्बन**—मनका आलम्बन (=विषय) पाँचों इन्द्रियोंके पाँचों विज्ञान—जिन्हें धर्म भी कहा जाता है—है।

(d) **सहाय**—मनके सहाय (=साथी) बहुत है, जिनमेंसे कुछ हैं—मनस्कार, स्पर्श[१], वेदना, संज्ञा, चेतना, स्मृति, प्रज्ञा, श्रद्धा, लज्जा, निर्लज्जता, अलोभ, अद्वेष, अमोह, पराक्रम, उपेक्षा, अहिंसा, राग, सन्देह, क्रोध, ईर्ष्या, शठता, हिंसा आदि चैतसिक धर्म।

(e) **कर्म**—पहिला है अपने पराये विषयों सम्बन्धी क्रिया जो कि क्रमशः छ आकारोंमें प्रकट होती है—(१) मनकी प्रथम क्रिया है, विषयके सामान्य स्वरूपकी विज्ञप्ति; (२) फिर उसके तीनों कालोंकी विज्ञप्ति; (३) फिर क्षणोंके क्रमकी विज्ञप्ति; (४) फिर प्रवृत्ति या अनुवृत्ति शुद्ध-अशुद्ध धर्म-कर्मोंकी विज्ञप्ति; (५) फिर इष्ट-अनिष्ट फलका ग्रहण; (६) दूसरे विज्ञान-समुदायोंका उत्थापन। दूसरी तरहपर लेनेसे मनके विशेष (=वैशेषिक) कर्म होते हैं—(१) विषयकी विकल्पना; (२) विषयका उपनिध्यान (=चिन्तन); (३) मदमें होना; (४)

---

[१] Contact.

उन्मादमें होना; (५) निद्रामें जाना; (६) जागना; (७) मूर्च्छा खाना; (८) मूर्च्छासे उठना; (९) कायिक-वाचिक कर्मोंका करना; (१०) वैराग्य करना; (११) वैराग्य छोड़ना; (१२) भलाईकी जड़ोंको काटना; (१३) भलाईकी जड़ोंको जोड़ना; (१४) शरीर छोड़ना (=च्युति) और (१५) शरीरमें आना (=उत्पत्ति)।

इन कर्मोंमेंसे कुछके होनेके बारेमें असंग कहते हैं[1]—

पुरविले कर्मोंसे अथवा शरीरधातुकी विषमता, भय, मर्म-स्थानमें चोट, और भूत-प्रेतके आवेशसे उन्माद (=पागलपन) होता है।

शरीरकी दुर्बलता, परिश्रमकी थकावट, भोजनके भारीपन आदि कारणोंसे निद्रा होती है।

वात-पित्तके बिगाड, अधिक पाखाना और खूनके निकलनेसे मूर्च्छा होती है।

(मनकी च्युति तथा उत्पत्ति)

बौद्ध-दर्शन क्षण-क्षण परिवर्तनशील मनसे परे किसी भी नित्य जीवात्माको नहीं मानता। मरनेका मतलब है, एक शरीर-प्रवाह (=शरीर भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील होनेसे वस्तु नहीं बल्कि प्रवाह है) से एक मन-प्रवाह (=मन-सन्तति) का च्युत होना। उसी तरह उत्पत्तिका मतलब है, एक मन-प्रवाहका दूसरे शरीर-प्रवाहमें उत्पन्न होना।

(a) **च्युति (=मृत्यु)**—मृत्यु तीन कारणोंसे होती है—आयुका खतम हो जाना, पुण्यका खतम हो जाना और शरीरकी विषम क्रिया यानी भोजनमें न मात्राका ख्याल, न पथ्यका ख्याल, दवा सेवन न करना, अकालचारी अब्रह्मचारी होना।

मृत्युके वक्त पापियोंके शरीरका हृदयसे ऊपरी भाग पहिले ठंडा पड़ता है, और पुण्यात्माओंका निचला भाग, फिर सारा शरीर।

[1] योगाचार-भूमि (मन-भूमि १)

(अन्तराभव)—एक शरीरके छोड़ने, दूसरे शरीरमें उत्पन्न होने तक जो बीचकी अवस्थामें मन (=जीव) रहता है, इसीको **अन्तराभव**, गन्धर्व, मनोमय कहते हैं। अन्तराभवको जैसे शरीरमें उत्पन्न होना होता है, वैसी ही उसकी आकृति होती है। वह अपने रास्तेमे सप्ताह भर तक लगा सकता है।

(b) **उत्पत्ति (=जन्म)**—मरणकालमें मन अपने भले बुरे कर्मों-को साकार देखना और वैसा ही **अन्तराभवीय** रूप धारण करता है। मनके किसी शरीरमें उत्पन्न होनेके लिए तीन बातोंकी जरूरत है—माता ऋतुमती हो, पिताका बीज मौजूद हो और गंधर्व (=अन्तराभव) उपस्थित हो, साथ ही योनि, बीज और कर्मके दोष बाधक न हों।

(गर्भमें लिंगभेद)—अन्तराभव माता-पिताकी मैथुन क्रियाको देखता है, उस समय यदि स्त्री बननेवाला होता है, तो उसकी पुरुषमें आसक्ति हो जाती है, और यदि पुरुष बननेवाला होता है, तो स्त्रीमें।

(i) **गर्भाधान**—मैथुनके पश्चात् घना बीज छूटता है, और रक्तका बिन्दु भी। बीज और शोणित बिन्दु दोनो माताकी योनि हो में मिश्रित हो, एक पिंड बनकर उबलकर ठंडे हो गए दूधकी भांति स्थित होते हैं, इसी पिंडमें सारे बीजोंको अपने भीतर रखनेवाला **आलय-विज्ञान** समा जाता है, अन्तराभव उसमें आकर जुड़ जाता है। इस गर्भकी कलल-अवस्था कहते हैं। कललके जिस स्थानमें विज्ञान जुड़ता है, वही उसका हृदय स्थान होता है। (१) कलल आगे बढ़ते हुए गर्भ और सात अवस्थाएँ धारण करता है—(२) अर्बुद, (३) पेशी, (४) घन, (५) प्रशाख, (६) केश-रोम-नखवाली अवस्था, (७) इन्द्रिय-अवस्था, और (८) व्यंजन (=लिंगभेद)-अवस्था। इनमें अर्बुद-अवस्थामें गर्भ दही जैसा होता है, वही मांसावस्था तक न-पहुँचा अर्बुद होता है। पेशी शिथिल मांससी होती है। कुछ और घना हो जानेपर घन, शाखाकी भाँति हाथ-पैर आदिका फूटना प्रशाख होता है।

(ii) **रंग आदि**—बुरे कर्मोंके कारण अथवा माताके अधिक

क्षार-लवण-रसवाले अन्न-पानके सेवनसे बालकके केशोंमें नाना रंग होते हैं। बालकके केश काले-गोरे होनेमें पूर्व जन्मके अतिरिक्त निम्न कारण हैं—यदि माँ बहुत गर्मी, तथा धूप आदिका सेवन करती है, तो बच्चा काला होगा। यदि माँ बहुत ठंडे कमरेमें रहती है, तो लड़का गोरा। बहुत गर्म खाना खानेपर लड़का लाल होगा। चमड़ेमें दाद, कुष्ट आदि विकार माताके अत्यन्त मैथुन-सेवनसे होता है। माताके बहुत दौड़ने-कूदने, तैरनेसे बच्चेके अंग विकृत होते हैं।

कन्या होनेपर गर्भ माताकी कोखमें बाईं ओर होता है, और पुत्र होनेपर दाहिनी ओर। प्रसवके वक्त माताके उदरमें असह्य कष्ट देनेवाली हवा पैदा होती है, जो गर्भके शिरको नीचे और पैरको ऊपर कर देती है।

(३) अनित्यवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद

"इसे कोई दूसरा नहीं जनमाता और न वह स्वयं उत्पन्न होता है प्रत्ययके होनेपर भाव (=वस्तुएँ) पुराने नहीं बिल्कुल नये-नये जनमते हैं।....प्रत्ययके होनेपर भाव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हो स्वरस (=स्वतः) ही क्षणभंगुर है।"[1]

महायानसूत्रकी इन गाथाओं द्वारा असंगने बौद्ध-दर्शनके मूल सिद्धान्त अनित्यवाद या क्षणिकवादको बतलाया है। "क्षणिकके अर्थको लेकर **प्रतीत्य-समुत्पाद**[2]" कहते हुए उन्होंने क्षणिकवाद शब्दसे प्रतीत्य-समुत्पादको स्वीकार किया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद—प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ करते हुए असंग कहते हैं[3]—प्रतिगमन करके (=खतम करके एक चीजको दूसरीकी उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है।) प्रत्यय अर्थात गतिशील अत्यय (=विनाश)के साथ उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है, जो क्षणिकके अर्थको लेकर होता है

[1] देखो यो० भू० [2] यो० भू० (भूमि ३,४,५) "प्रत्ययत इत्वरात्ययसंगत उत्पादः प्रतीत्य-समुत्पादः क्षणिकार्थमधिकृत्य।" [3] वहीं।

अथवा प्रत्यय अर्थात् अतीत (=खनम हुई चीज)मे अपने प्रवाहमें उत्पाद। 'इसके होनेके बाद यह होता है', 'इसके उत्पादसे यह उत्पन्न होता है, दूसरी जगह नहीं', पहिलीके नष्ट-विनष्ट होनेपर उत्पाद इस अर्थमें। अथवा अतीत कालमें प्रत्यय (=खनम) हो जानेपर साथ ही उसी प्रवाहमें उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है।

और भी[1]—

"प्रतीत्य-समुत्पाद क्या है? निःसत्त्व (=अन्-आत्मा)के अर्थमें ....। निःसत्त्व होनेसे अनित्य है इस अर्थमें। अनित्य होनेपर गति-शीलके अर्थमें। गतिशील होनेपर परतंत्रताके अर्थमें। परतंत्र होनेपर निरीहके अर्थमें। निरीह होनेपर कार्य-कारण (=हेतु-फल) व्यवस्थाके खंडित हो जानेके अर्थमें। (कार्य-कारण-)व्यवस्थाके खंडन होनेपर अनुकूल कार्य-कारणकी प्रवृत्तिके अर्थमें। अनुरूप कार्य-कारणकी प्रवृत्ति होनेपर कर्मके स्वभावके अर्थमें।

अनित्य, दुःख, शून्य और नैरात्म्य (=नित्य आत्माकी सत्ताको अस्वीकार करना)के अर्थमें होनेसे भगवान् (बुद्ध)ने प्रतीत्य-समुत्पादके बारेमें कहा[2] "प्रतीत्य-समुत्पाद गम्भीर है।"

"(वस्तुएँ) प्रतिक्षण नये-नये रूपमें जीवन-यात्रा (=प्रवृत्ति) करती हैं। प्रतीत्य-समुत्पाद क्षणभंगुर है।[3]

(४) हेतु-विद्या

असंगने विद्या (=ज्ञान)को पाँच प्रकारकी माना है[4]—(१) अध्यात्मविद्या जिसमें बुद्धोक्त सूत्र, विनय और मातृका (=अभि-धर्म) अर्थात त्रिपिटक तथा उसमें वर्णित विषय सम्मिलित हैं; (२) चिकित्सा-

[1] वहीं कुछ पहिले। [2] संयुत्तनिकाय २।९२; दीघनिकाय २।५५
[3] "प्रतिक्षणं च नव लक्षणानि प्रवर्त्तन्ते। क्षणभंगुरश्च प्रतीत्य-समुत्पादः"।
[4] यो० भू० (श्रुतमयी भूमि १०)

विद्या या वैद्यकशास्त्र; (३) हेतुविद्या या तर्कशास्त्र; (४) शब्दविद्या जिससे धर्म, अर्थ, पुद्गल (=जीव), काल, संख्या और सखिलाधिकरण (=व्याकरणशास्त्र)का ज्ञान होता है, और शिल्पकर्मस्थानविद्या (=शिल्पशास्त्र)।

हेतुविद्याको कुछ विस्तारपूर्वक समझाते हुए असंग उसे छ भागोंमें बाँटते हैं—(१) वाद, (२) वाद-अधिकरण, (३) वाद-अधिष्ठान, (४)वाद-अलंकार, (५) वाद-निग्रह और (६) वादेबहुकर (=वाद-उपयोगी) बातें।

(क) वाद्—वाद बहस या सलाप छ प्रकारके होते हैं।

(a) **वाद्**—जो कुछ मुँहसे बोला जाये, वह वाद है।

(b) **प्रवाद्**—लोकश्रुति या जनश्रुति प्रवाद है।

(c) **विवाद्**—भोगोंके रखने-छीननेके सम्बन्धमें अथवा दृष्टि (=दर्शन) या विचारके संबंधमें परस्पर विरोधी वाद (=वाग्युद्ध) विवाद है।[1]

(d) **अपवाद्**—निन्दा।

(e) **अनुवाद्**—धर्मके बारेमें उठे सन्देहोंको दूर करनेके लिए जो बात की जाये।

(f) **अववाद्**—तत्त्वज्ञान करानेके लिए किया गया वाद।

इनमें विवाद और अपवाद त्याज्य है, और अनुवाद तथा अववाद सेवनीय।

(ख) वाद्-अधिकरण—वादके उपयुक्त अधिकरण या स्थान दो

[1] **"कामेषु तद्यथा नट-नर्त्तक-लासक-हासकाद्युपसंहितेषु वा वेश्या-जनोपसंहितेषु वा पुनः संदर्शनाय वा उपभोगाय वा. . . .विगृहीतानां . . . .नानावादः ।. . . .दृष्टेर्वा पुनः आरभ्य तद्यथा सत्कायदृष्टि, उच्छेददृष्टि, विषमहेतुदृष्टि, शाश्वतदृष्टि, वार्षगण्यदृष्टि, मिथ्यादृष्टि-मिति वा. . . .नानावादः ।"**

हैं, राजा या योग्यकुलकी परिषद् और धर्म-अर्थमें निपुण ब्राह्मणों या श्रमणोंकी सभा।

(ग) वाद-अधिष्ठान—वादके अधिष्ठान (=मुख्य विषय) हैं दो प्रकारके साध्य और साध्यको सिद्ध करनेके लिए उपयुक्त होनेवाले आठ प्रकारके साधन। इसमें साध्यके सत्-असत्के स्वभाव (=स्वरूप), तथा नित्य-अनित्य, भौतिक-अभौतिक आदि विशेषको लेकर साध्यके स्वभाव और विशेष ये दो भेद होते है।

(आठ साधन)—साध्य वस्तुके सिद्ध करनेवाले साधन निम्न आठ प्रकारके हैं—

(a) **प्रतिज्ञा**—स्वभाव या विशेषवाले दोनों प्रकारके साध्योंको लेकर (वादी-प्रतिवादीका) जो अपने पक्षका परिग्रह (=ग्रहण) है। वही प्रतिज्ञा है। यह पक्ष-परिग्रह शास्त्र(-मत) की स्वीकृतिमें हो सकता है या अपनी प्रतिभासे, या दूसरेके तिरस्कारमें या दूसरेके शास्त्रीय मत (=अनुश्रव)से, या तत्त्व-साक्षात्कारसे, या अपने पक्षकी स्थापनासे, या पर-पक्षके दूषणसे, या दूसरेके पराजयसे, या दूसरेपर अनुकंपासे भी हो सकता है।

(b) **हेतु**—उसी प्रतिज्ञावाली बातकी सिद्धिके लिए सारूप्य (=सादृश्य) या वैरूप्य उदाहरणकी सहायतासे, अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान या आप्त-आगम (=शब्दप्रमाण, ग्रंथ-प्रमाण)से युक्तिका कहना हेतु है।

(c) **उदाहरण**—उसी प्रतिज्ञावाली बातकी सिद्धिके लिए हेतुपर आश्रित दुनियामें उचित प्रसिद्ध वस्तुको लेकर बात करना उदाहरण है।

(d) **सारूप्य**—किसी चीजका किसीके साथ सादृश्य सारूप्य कहा जाता है। यह पाँच प्रकारका होता है।—(१) वर्तमान या पूर्वमें देखे हेतुसे चिह्नको लेकर एक दूसरेका सादृश्य **लिंग-सादृश्य** है; (२) परस्पर स्वरूप (=लक्षण) सादृश्य **स्वभाव-सादृश्य** कहा जाता है; (३) परस्पर क्रिया-सादृश्यको **कर्म-सादृश्य** कहते हैं; (४) धर्मता (=गुण)

सादृश्य **धर्म-सादृश्य** कहा जाता है, जैसे अनित्यमें दुःख-धर्मताका सादृश्य दुःखमें नैरात्म्यधर्मताका, निरात्मकोंमें जन्म-धर्मताका इत्यादि; (५) **हेतुफल-सादृश्य,** परस्पर कार्य-कारण बननेका सादृश्य है।

(e) **वैरूप्य**—किसी वस्तुका किसी वस्तुके साथ अ-सदृश होना वैरूप्य है। यह भी लिंग-, स्वभाव-, कर्म-, धर्म-, और हेतुफल-वैसादृश्योंके तौरपर पाँच प्रकारका होता है।

(f) **प्रत्यक्ष**—प्रत्यक्ष उसे कहते हैं, जो कि अ-परोक्ष (=इन्द्रियसे परेका नहीं) अनभ्यूहितअनभ्यूह्य और अ-भ्रान्त है।[1] यहाँ जो कल्पना नहीं, सिर्फ (इन्द्रियके) ग्रहण मात्रसे सिद्ध है, और जो वस्तु (=विषय) पर आधारित है,[2] उसे अनभ्यूहित-अनभ्यूह्य कहते हैं। अभ्रान्त उसे कहते हैं, जो कि पाँच भ्रान्तियोंसे मुक्त है। यह पाँच भ्रांतियाँ हैं—

(i) **संज्ञा भ्रान्ति**—जैसे मृगतृष्णावाली (मरु)-मरीचिकामें पानी की संज्ञा (=ज्ञान)।

(ii) **संख्या-भ्रान्ति**—जैसे धुन्धवालेका एक चन्द्रमें दो चन्द्रको देखना।

(iii) **संस्थान-भ्रान्ति**—जैसे बनेठी (=अलात)में (प्रकाश-) चक्रकी भ्रान्ति संस्थान(=आकार)-संबंधी भ्रान्ति है।

(iv) **वर्ण-भ्रान्ति**—जैसे कामला रोगवाले आदमीको न-पीली चीजें भी पीली दिखलाई पड़ती हैं।

(v) **कर्म-भ्रान्ति**—जैसे कड़ी मुट्ठी बाँधकर दौड़नेवालेको वृक्ष पीछे चले आते दीख पड़ते हैं।

[1] **"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं"—धर्मकीर्त्ति, पृ० ७६५ (असंगानुज वसुबन्धुके शिष्य दिग्नागका भी यही मत)।**

[2] **"यो ग्रहणमात्रप्रसिद्धोपलब्ध्याश्रयो विषयः यश्च विषयप्रतिष्ठोपलब्ध्याश्रयो विषयः।" यो० भू०**

चित्त-भ्रान्ति—उक्त पाँचों भ्रान्तियोंमें भ्रमपूर्ण विषयमें चित्तकी रति चित्त-भ्रान्ति है।

दृष्टि-भ्रान्ति—उक्त पाँचों भ्रान्तियोंमें भ्रमपूर्ण विषयमें जो रुचि, स्थिति, मंगल मानना, आसक्ति है, उसे दृष्टिभ्रान्ति कहते हैं।

प्रत्यक्ष चार प्रकारका होता है—रूपी (=भौतिक), इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मन-अनुभव-प्रत्यक्ष, लोक-प्रत्यक्ष और शुद्ध-प्रत्यक्ष।[1] इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मन-अनुभव प्रत्यक्षका ही नाम लोक-प्रत्यक्ष, है, यह असंग खुद मानते हैं।[2] इस प्रकार प्रत्यक्ष तीन ही है, जिन्हें धर्मकीर्त्ति (दिग्नाग, और शायद उनके गुरु वसुबन्धु भी) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष कहते हैं। हाँ वह लोक-प्रत्यक्षकी जगह स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे चारकी संख्या पूरी कर देते हैं, इस तरह प्रत्यक्षके अपरोक्ष, कल्पना-रहित (=कल्पनापोढ) अभ्रान्त इस प्रत्यक्ष-लक्षण और इन्द्रिय-, मानस-, योगि-प्रत्यक्ष इन तीन भेदोंकी परम्पराको हम बौद्धन्यायके सबसे पीछेके ग्रंथकारों ज्ञानश्री आदिसे लेकर असंग तक पाते हैं। असंगसे पौन शताब्दी पहिले नागार्जुनसे और नागार्जुनसे शताब्दी पहिले अश्वघोष तक उसे जोड़नेका हमारे पास साधन नहीं है।

(ग) **अनुमान**—ऊहा (=तर्क)से अभ्यूहित (=तर्कित) और तर्कणीय जिसका विषय है वह अनुमान है। इसके पांच भेद होते हैं—(१) **लिंग**से किया गया अनुमान, जैसे ध्वजसे रथका अनुमान, धूमसे अग्नि, राजासे राष्ट्र, पतिसे स्त्री, ककुद (=उड्ढा)-सीगसे बैलका अनुमान; (२) **स्वभाव**-से अनुमान यह एक देश (=अंश)से सारेका अनुमान है, जैसे एक चावलके पकनेसे सारी हाँडीके पकनेका अनुमान; (३) **कर्म**से अनुमान, जैसे हिलने, अंग-चालनसे पुरुषका अनुमान, पैरकी चालसे हाथी, शरीरकी गतिसे साँप, हिनहिनानेसे घोड़े, हौंकड़नेसे साँडका अनुमान; देखनेसे आँख, सुननेसे

[1] **शुद्ध-प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष ही है "यो लोकोत्तरस्य ज्ञानस्य विषयः।"**
[2] **"तदुभयमेकध्यमभिसंक्षिप्य लोक-प्रत्यक्षमित्युच्यते।" यो० भू०**

कान, सूँघनेसे घ्राण, चखनेसे जिह्वा, छूनेसे त्वक्, जाननेसे मनका अनुमान; पानीमें देखनेकी रुकावटसे पृथिवी, चिकने हरे होनेसे जल, दाह-भस्म देखनेसे आग, वनस्पतिके हिलनेसे हवा। (४) **धर्म** (=गुण)से अनुमान, जैसा अनित्य होनेसे दुःख होनेका अनुमान, दुःख होनेसे शून्य और अनात्मक होनेका अनुमान। (५) **कार्य-कारण** (=हेतु-फल)से अनुमान, अर्थात् कार्यसे कारणका अनुमान तथा कारणसे कार्यका अनुमान, जैसे राजाकी सेवासे महाऐश्वर्य (=महाभिसार)के लाभका अनुमान, महाऐश्वर्यके लाभसे राज-सेवाका अनुमान; बहुत भोजनसे तृप्ति, तृप्तिसे बहुत भोजन; विषम भोजनसे व्याधि, व्याधिसे विषम भोजनका अनुमान।

धर्मकीर्त्तिने तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे अनुमानके जिन भेदोंको बतलाया है, वे असंगके इन भेदोंमें भी मौजूद हैं।

(h) **आप्तागम**—यही शब्द प्रमाण है।

(घ) वाद-अलंकार—वादमें भूषण रूप हैं वक्ताकी निम्न पाँच योग्यताएं—(१) **स्व-पर-समयज्ञता**—अपने और पराये मतोंकी अभिज्ञता। (२) **वाक्‌कर्म-संपन्नता**—बोलनेमें निपुणता जोकि अग्राम्य, लघु (=सुबोध), ओजस्वी, संबद्ध (=परस्पर अ-विरोधी और अशिथिल) और सु-अर्थ शब्दोंके प्रयोगको कहते है। (३) **वैशारद्य**—सभामें अदीनता, निर्भीकता, न-पीला मुख होने, गद्‌गद स्वर न होने, अदीन वचन होनेको कहते हैं। (४) **स्थैर्य**—काल लेकर जल्दी किये विना बोलना। (५) **दाक्षिण्य**—मित्रकी भाँति पर-चित्तके अनुकूल बात करनेका ढंग।

(ङ) वाद-निग्रह—वादमें पकड़ा जाना, जिससे कि वादी पराजित हो जाता है। ये तीन हैं—कथा-त्याग, कथा-माद (=इधर-उधरकी बातें करने लगना) और कथा-दोष। बेठीक बोलना, अ-परिमित बोलना, अनर्थवाली बात बोलना, बेसमय बोलना, अ-स्थिर, अ-दीप्त और अ-संबद्ध बोलना ये कथा-दोष हैं।

(च) वाद-निःसरण—गुण-दोष, कौशल्य (=निपुणता) और सभाकी परीक्षा करके वादको न करना वाद-निःसरण है।

(छ) वादे बहुकर बातें—ये हैं वादकी उपयोगी बातें स्व-पर-मत-अभिज्ञता, वैशारद्य और प्रतिभान्विता।

(५) परमत-खंडन

असंगने "योगाचार-भूमिमें सोलह पर-वादों (=दूसरोंके मतों)को देकर उनका खंडन किया है। ये पर-वाद हैं—

(क) हेतु-फल-सद्वाद—हेतु (=कारण)में फल (=कार्य) सदा मौजूद रहता है, जैसा कि **वार्षगण्य** (सांख्य) मानते हैं। वे अपने इस सद्वाद (पीछे यही सत्कार्यवाद)का आगम (=ग्रंथ)पर आधारित तथा युक्ति-सम्मत मानते हैं। वे कहते हैं, जो फल (=कार्य) जिससे उत्पन्न होता वह उसका हेतु (=कारण) होता है, इसीलिए आदमी जिस फलको चाहता है, वह उसीके हेतुका उपयोग करता है, दूसरेका नहीं। यदि ऐसा न होता तो जिस किसी वस्तु (तेलके लिए तिल नहीं रेत आदि किसी भी चीज)का भी उपयोग करता।

खंडन—मगर उनका यह वाद गलत है। आप हेतु (=कारण) को फल(=कार्य)-स्वरूप मानते हैं या भिन्न स्वरूप? यदि हेतु फल-स्वरूप ही है, अर्थात् दोनों अभिन्न हैं, तो हेतु और फल, हेतुमें फल यह कहना गलत है। यदि भिन्न स्वरूप हैं, तो सवाल होगा—वह भिन्न स्वरूप उत्पन्न हुआ है या अनुत्पन्न? उत्पन्न माननेपर, 'हेतुमें फल है' कहना ठीक नहीं। यदि उत्पन्न मानते हैं, तो जो अनुत्पन्न है, वह हेतुमें "है" कैसे कहा जायेगा? इसलिए हेतुमें फलका सद्भाव नहीं होता, हेतुके होनेपर फल उत्पन्न होता है। अतएव "नित्य काल सनातनसे हेतुमें फल विद्यमान है" यह कहना ठीक नहीं है। यह वाद अयोग-विहित (=युक्ति-रहित) है।

(ख) अभिव्यक्तिवाद—अभिव्यक्ति या अभिव्यंजनावादके अनुसार पदार्थ उत्पन्न नहीं होते, बल्कि अभिव्यक्त (=प्रकाशित) होते हैं। हेतु-फल-सद्वादके माननेवाले सांख्यों और शब्द-लक्षणवादी वैयाकरणोंका

यही मत है। हेतु-फल-सद्वादके अनुसार फल(=कार्य) यदि पहिलेहीसे मौजूद है, तो प्रयत्न करनेकी क्या जरूरत? अभिव्यक्तिके लिए प्रयत्न करना पड़ता है।

खंडन—क्या आप अनभिव्यक्तिमें आवरण करनेवाले कारणके होनेको मानते हैं या न होनेको? "आवरण-कारणके न होनेपर" यह कह नहीं सकते। "होनेपर" भी नहीं कह सकते, क्योंकि जब वह हेतुको नहीं ढाँक सकता, जो कि सदा फल-संयुक्त है, तो फलको कैसे ढाँक सकता है? हेतु-फल-सद्वाद वस्तुतः गलत है, वस्तुओंके अभिव्यक्त न होनेके छ कारण हैं[1]—(१) दूर होनेसे, (२) चार प्रकारके आवरणोंमें ढँके होनेसे, (३) सूक्ष्म होनेसे, (४) चित्तके विक्षेपसे, (५) इन्द्रियके उपघातसे, (६) इन्द्रिय-संबंधी ज्ञानोंके न पानेसे।

जिस तरह सांख्योंका हेतु-फल-अभिव्यक्तिवाद गलत है, वैसे ही वैयाकरणों (और मीमांसकोंका भी) शब्द-अभि-व्यक्तिवाद भी गलत है। "शब्द नित्य है" यह युक्तिहीन वाद है।

(ग) भूत-भविष्यके द्रव्योंका सद्वाद—यह बौद्ध सर्वास्तिवादियोंका मत है, अश्वघोष (५० ई०) से असंगके वक्त तक गंधार (असंगकी जन्म-भूमि) सर्वास्तिवादियोंका गढ़ चला आया था। असंगके अनुज वसुबन्धुका महान् ग्रंथ अभिधर्मकोश तथा उसपर स्वरचित-भाष्य सर्वास्तिवाद (=वैभाषिक) के ही ग्रंथ है। लेकिन अब गंधार तथा सारे भारतमें इन प्राचीन (=स्थविर) बौद्ध संप्रदायोंका लोप होनेवाला था और उनका स्थान महायान लेने जा रहा था। सर्वास्तिवादी कहते "अतीत (=भूत) है, अनागत (=भविष्य) है, दोनों उसी तरह लक्षण-संपन्न हैं जैसे कि वर्तमान द्रव्य।"

[1] ईश्वरकृष्णने भी सांख्य-कारिकामें इन हेतुओंको गिनाया है। ईश्वरकृष्णका दूसरा नाम विंध्यवासी भी था, और उनकी प्रतिद्वंद्विता असंगानुज वसुबन्धुसे थी, यह हमें चीनी लेखोंसे मालूम है।

खंडन—असंग इसका खंडन करते हुए कहते हैं—इन (अतीत-अनागत) काल-संबंधी वस्तुओं (=धर्मों) को नित्य मानते हो या अनित्य? यदि नित्य मानते हो, तो त्रिकाल-संबद्ध नहीं बल्कि कालातीत होंगे। यदि अनित्य लक्षण (=स्वरूप) मानते हो, तो "तीनों कालोंमें वैसा ही विद्यमान है" यह कहना ठीक नहीं।

(घ) आत्मवाद—आत्मा, सत्त्व, जीव, पोष या पुद्गल नामधारी एक स्थिर सत्य तत्त्वको मानना आत्मवाद है; (उपनिषदका यह प्रधान मत है)। असंग इसका खंडन करते हैं—जो देखता है वह आत्मा है यह भी युक्ति-युक्त नहीं। आत्माकी धारणा न प्रत्यक्ष पदार्थमें होती है, न अनुमान-गम्य पदार्थमें हो। यदि चेष्टा (=शरीर-क्रिया)को बुद्धि-हेतुक मानें, तो 'आत्मा चेष्टा करता है' यह कहना ठीक नहीं। नित्य आत्मा चेष्टा कर नहीं सकता। नित्य आत्मा सुख-दुःखमें भी लिप्त नहीं हो सकता।

वस्तुतः धर्मों (=सामारिक वस्तु-घटनाओं)में आत्मा एक कल्पना मात्र है। सारे "धर्म" अनित्य, अध्रुव, अन्-आश्वासिक, विकारी, जन्म-जरा-व्याधिवाले हैं, दुःख मात्र उनका स्वरूप है। इसीलिए भगवान्ने कहा—"भिक्षुओ! ये धर्म (=वस्तुएं) ही आत्मा हैं। भिक्षु! यह तेरा आत्मा अ-ध्रुव, अन्-आश्वासिक, विपरिणामी (=विकारी) है।" यह सत्त्वकी कल्पना संस्कारों (=कृत वस्तुओं, घटनाओं)में ही समझनी चाहिए, दुनियामें व्यवहारकी आसानी[1] के लिए ऐसा किया जाता है। वस्तुतः सत्त्व या आत्मा नामकी वस्तु कोई नहीं है। आत्मवाद युक्तिहीन वाद है।

(ङ) शाश्वतवाद[2]—आत्मा और लोकको शाश्वत, अकृत, अकृत-कृत, अनिर्मित, अनिर्माणकृत, अवध्य, कूटस्थायी मानना शाश्वतवाद है। कितने ही (यूनानी दार्शनिकोंकी) परमाणु नित्यताको माननेवाले भी शाश्वतवादी होते हैं। परमाणु नित्यवादके बारेमें आगे कहेंगे।

[1] "सुख-संव्यवहारार्थम्।"　　[2] प्रक्रुध कात्यायन, दर्शन० ५६०

(च) पूर्वकृतहेतुवाद[१]—जो कुछ आदमीको भोग भोगना पड़ रहा है, वह सभी पूर्वके किये कर्मोंके कारण हैं, इसे कहते हैं पूर्वकृत-हेतुवाद, यह जैनोंका मत है। दुनियामें ठीकसे काम करनेवालोंको दुःख पाने, झूठे काम करनेवालोंको हम सुख पाने देखते हैं। यदि पुरुष-प्रयत्नके आधीन होता, तो ऐसा न होता। इसलिए यह सब पूर्वकृतहेतुक, पुरिविलेका फल हैं।

असंग इस बातसे बिल्कुल इन्कार नहीं करते, हां, वह साथ ही पुरुषके आजके प्रयत्नको भी फलदायक मानते हैं।

(छ) ईश्वरादिकर्तृत्ववाद—इसके अनुसार पुरुष जो कुछ भी संवेदना (=अनुभव) करता है, वह सभी ईश्वरके करनेके कारण होता है। मनुष्य शुभ करना चाहता है, पाप कर बैठता है; स्वर्गलोकमें जानेकी कामना करता है, नरकमें चला जाता है; सुख भोगनेकी इच्छा रखते दुःख ही भोगता है। चूँकि ऐसा देखा जाता है, इससे जान पड़ता है कि भावोंका कोई कर्त्ता, स्रष्टा, निर्माता, पितासा ईश्वर है।

खंडन—ईश्वरमें जगत् बनानेकी शक्ति (जीवोंके) कर्मके कारण है, या बिना कारण ही? कर्मके कारण (=हेतु) होनेसे सहेतुक है ही, फिर ईश्वरका क्या काम? यदि कर्मके कारण नहीं, अतएव अहेतुक है, तब भी ठीक नहीं। फिर सवाल होगा—(सृष्टिकर्त्ता) ईश्वर जगत्के अन्तर्भूत है या नहीं? यदि अन्तर्भूत है, तो जगत्से समानधर्मा हो वह जगत् सृजता है, यह ठीक नहीं है; यदि अन्तर्भूत नहीं है, तो (जगत्से) मुक्त (या दूर) जगत् सृजता है, यह भी ठीक नहीं। फिर प्रश्न है—वह जगत्को सप्रयोजन सृजता है या निष्प्रयोजन? यदि सप्रयोजन तो उस प्रयोजनके प्रति अनीश्वर (=बेबस) है फिर जगदीश्वर कैसे? यदि निष्प्रयोजन सृजता है, तो यह भी ठीक नहीं (यह तो मूर्ख चेष्टित होगा)। इसी तरह, यदि ईश्वरहेतुक सृष्टि होती है, तो जब ईश्वर है तब सृष्टि, जब

[१] महावीर, दर्शन-दिग्दर्शन ४९४

सृष्टि है तब ईश्वर और यह ठीक नहीं; (क्योंकि दोनों तब अनादि होंगे)। ईश्वर-इच्छाके कारण सृष्टि है, इसमें भी वही दोष है। इस प्रकार सामर्थ्य, जगत्‌में अन्तर्भूत-अनन्तर्भूत होने, सप्रयोजन-निष्प्रयोजन, और हेतु होनेकी बात लेकर विचार करनेसे पता लगा कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर मानना बिल्कुल अयुक्त है।

(ज) हिंसाधर्मवाद—जो यज्ञमें मंत्रविधिके अनुसार हिंसा (= प्राणातिपात) करता है, हवन करता है या जो हवन होता है (पशु), और जो इसमें सहायक होता है, सभी स्वर्ग जाते हैं—यह याज्ञिकों (और मीमांसकों)का मत हिंसाधर्मवाद है। कलियुगके आनेपर ब्राह्मणोंने पुराने ब्राह्मण-धर्मको छोड़ मांस खानेकी इच्छासे इस (हिंसाधर्म)का विधान किया।

हेतु, दृष्टान्त, व्यभिचार, फलशक्तिके अभाव, मंत्रप्रणेताके संबंधसे विचार करनेपर यह वाद अयुक्त ठहरता है।

(झ) अन्तानन्तिकवाद—लोक अन्तवान्, लोक अनन्तवान् है, इस वादको अन्तानन्तिकवाद कहते हैं। बुद्धके उपदेशोंमें भी इस वादका ज़िक्र आया है।[1]

(ञ) अमराविक्षेपवाद—यह वाद भी बुद्ध-वचनोंमें मिलता है, और पहिले इसके बारेमें कहा जा चुका है।[2]

(ट) अहेतुकवाद—आत्मा और लोक अहेतुक (=बिना हेतुके) ही हैं, यह अहेतुकवाद है, यह भी पीछे आ चुका है।[3] अभावके अनुस्मरण, आत्माके अनुस्मरण, बाह्य-आभ्यन्तर जगत्‌में निर्हेतुक वैचित्र्यपर विचार करनेसे यह वाद अयुक्त जान पड़ता है।

(ठ) उच्छेदवाद[4]—आत्मा रूपी, स्थूल चार महाभूतोंसे बना है, वह रोग-, गड-, शल्य-सहित है। मरनेके बाद वह उच्छिन्न हो जाता है,

[1] देखो दीघनिकाय १।१ [2] दर्शन०, पृष्ठ ४९१
[3] वहीं, पृष्ठ ४८७ [4] वहीं, पृष्ठ ४८५-६

नष्ट हो जाता है, फिर नहीं रहता। जिस तरह टूटे कपाल (बर्त्तनके टुकड़े) जुड़ने लायक नहीं होते, जिस तरह टूटा पत्थर अप्रतिसन्धिक होता है, वैसे ही यहाँ (आत्माके बारेमें) भी समझना चाहिए।

खंडन—यदि आत्मा (पाँच) **स्कन्ध** है, तो स्कन्ध (स्वरूपसे नाशमान होते भी) परंपरासे चलते रहते हैं, वैसे ही आत्माको भी मानना चाहिए। रूपी, औदारिक चातुर्महाभूतिक, सराग, सगंड, सशल्य आत्मा होना, तो देवलोकोंसे वह इससे भिन्न रूपमें कैसे दीख पड़ता है?

उच्छेदवाद अर्थात् भौतिकवादके विरुद्ध बस इतनी ही युक्ति दे असंगने मौन धारण किया है।

(ड) नास्तिकवाद—दान-यज्ञ कुछ नहीं, यह लोक परलोक कुछ नहीं, सुकृत दुष्कृतका फल नहीं होता—यह नास्तिकवाद, पहिले[1] भी आ चुका है।

(ढ) अग्रवाद—ब्राह्मण ही अग्र (=उच्च श्रेष्ठ) वर्ण है, दूसरे वर्ण हीन हैं, ब्राह्मण शुक्ल वर्ण है, दूसरे वर्ण कृष्ण है, ब्राह्मण शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं; ब्राह्मण ब्रह्माके औरस पुत्र मुखसे उत्पन्न ब्रह्मज, ब्रह्म-निर्गत, ब्रह्म-पार्षद हैं, जैसे कि कलियुगवाले ये ब्राह्मण।

खंडन—ब्राह्मण भी दूसरे वर्णोंकी भाँति प्रत्यक्ष मातृ-योनिसे उत्पन्न हुए देखे जाते हैं, (फिर ब्रह्माका औरस पुत्र कहना ठीक नहीं), अतः "ब्राह्मण अग्रवर्ण हैं" कहना ठीक नहीं। क्या योनिसे उत्पन्न होनेके ही कारण ब्राह्मण-को अग्र मानते हो, या उसमें विद्या और सदाचारकी भी जरूरत समझते हो? यदि योनिसे ही मानते हो, तो यज्ञमें श्रुत-प्रधान, शील-प्रधान ब्राह्मणके लेनेकी बात क्यों करते हो? यदि श्रुत (=विद्या) और शील (=सदाचार) को मानते हो, तो 'ब्राह्मण अग्र वर्ण है' कहना ठीक नहीं।

(ण) शुद्धिवाद—जो सुन्दरिका नदीमें नहाता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं, इसी तरह बाहुदा, गया, सरस्वती, गंगामें नहानेसे पाप

---

[1] वहीं, पृष्ठ ४८५

छूटना है। कोई उदक स्नान मात्रसे शुद्धि मानते है। कोई कुक्कुर व्रत (=कुक्कुरकी तरह हाथ बिना लगाये मुँहसे खाना, वैसे ही हाथ पैर करके बैठना-चलना आदि), गोव्रत, तैलमसि-व्रत, नग्न-व्रत, भस्म-व्रत, काष्ठ-व्रत, विष्ठा-व्रत जैसे व्रतोंसे शुद्धि मानते हैं; इसे शुद्धिवाद कहते हैं।

खंडन—शुद्धि आध्यात्मिक बात है, फिर वह तीर्थ-स्नानसे कैसे हो सकती है?

(त) कौतुकमंगलवाद—सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, ग्रहों-नक्षत्रोंकी विशेष स्थितिसे आदमीके मनोरथोंकी सिद्धि या असिद्धि होती है। इसलिए ऐसा विश्वास रखनेवाले (=कौतुकमंगलवादी) लोग सूर्य आदिकी पूजा करते हैं, होम, जप, तर्पण, कुम्भ, बेल (=बिल्व), शंख आदि चढ़ाते हैं, जैसा कि जोतिसी (=गाणितिक) करते हैं।

खंडन—आप सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदिके कारण पुरुषकी सम्पत्ति-विपत्तिको मानते है या उसके अपने शुभ-अशुभ कर्मसे? यदि ग्रहण आदिसे तो शुभ-अशुभ कर्म फजूल, यदि शुभ-अशुभ कर्मसे तो ग्रहणसे कहना ठीक नहीं।

४. अन्य विचार

असंगने स्कंध, द्रव्य, परमाणुके बारेमें भी अपने विचार प्रकट किए हैं।

(१) स्कंध—

(क) रूप-स्कंध या द्रव्य—रूप-समुदाय (=रूपस्कंध)में चौदह द्रव्य हैं—पृथिवी-जल-अग्नि-वायु चार महाभूत, रूप-शब्द-गन्ध-रस-स्प्रष्टव्य पाँच इन्द्रिय-विषय और चक्षु-श्रोत-घ्राण-जिह्वा-काय (=त्वक्) पाँच इन्द्रियाँ।

ये द्रव्य कहीं-कहीं अकेले मिलते हैं, जैसे हीरा-शंख-शिला-मूँगा आदिमें

अकेला पृथिवी-द्रव्य, चश्मा-सार-तड़ाग-नदी-प्रपात आदिमें सिर्फ अकेला जल, दीपक-उल्का आदिमें अकेला अग्नि, पुरवा-पछवाँ आदिमें अकेला वायु। कहीं दो-दो द्रव्य इकट्ठा मिलते हैं, जैसे बर्फ-पत्ता-फल-फूल आदिमें और मणि आदिमें भी। कहीं-कहीं वृक्षादिके तप्त होनेपर तीन भी। और कहीं-कहीं चार भी, जैसे शरीरके भीतरके केशसे लेकर मल-मूत्र तकमें। खक्खट (=खटखट) होना पृथिवीका सूचक है, बहना जलका, ऊपरकी ओर जलना अग्निका और ऊपरकी ओर जाना वायुका। जहाँ जो-जो मिले, वहाँ उस महाभूतको मानना चाहिए। सभी रूप-समुदायमें सारे महाभूत रहते हैं, इसीलिए तो मथे काठ (=पृथिवी)को मथनेसे आग पैदा होती है, अतिसंतप्त लोहा-रूपा-सुवर्ण पिघल जाते हैं।

(ख) **वेदना**—वेदना अनुभव करनेको कहते हैं।

(ग) **संज्ञा**—संज्ञा संजानन, जाननेको कहते हैं।

(घ) **संस्कार**—चित्तमें संस्कारको कहते हैं।

(ङ) **विज्ञान**—विज्ञानके बारेमें पहिले कहा जा चुका है।

(२) **परमाणु**—बीजकी भाँति परमाणु सारे रूपी स्थूल द्रव्योंका निर्माण करते हैं, वह सूक्ष्म और नित्य होते हैं। असंग ऐसे परमाणुओंको सत्ताका खंडन करते हैं।—

परमाणुके संचयसे रूपसमुदाय नहीं तैयार हो सकता, क्योंकि परमाणुके परिमाण, अन्त, परिच्छेदका ज्ञान बुद्धि (=कल्पना)पर निर्भर है, (प्रत्यक्षपर नहीं)। परमाणु अवयव-रहित है, फिर वह सावयव द्रव्योंका निर्माण कैसे कर सकता है? परमाणु अवयव-सहित है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि परमाणु ही अवयव है, और अवयव द्रव्यका होता है, परमाणुका नहीं।

परमाणु नित्य हैं, यह कहना ठीक नहीं क्योंकि इस नित्यताको परीक्षा करके किसीने सिद्ध नहीं किया। सूक्ष्म होनेसे परमाणु नित्य है, यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि सूक्ष्म होनेसे तो वह अधिक दुर्बल (अतएव भंगुर) होगा।

दिग्नाग (४२५ ई०)

वसुबंधुकी तरह दिग्नागको भी छोड़कर आगे बढ़ना नहीं चाहिए, यह मैं मानता हूँ, किन्तु मैं धर्मकीर्त्तिके दर्शनके बारेमें उनके प्रमाणवार्त्तिकके आधारपर सविस्तर लिखने जा रहा हूँ। प्रमाणवार्त्तिक वस्तुतः आचार्य दिग्नागके प्रधान ग्रंथ **प्रमाणसमुच्चय**की व्याख्या (वार्त्तिक) है—जिसमें धर्मकीर्त्तिने अपनी मौलिक दृष्टिका कितने ही जगह दिग्नागसे मतभेद रखते हुए भी प्रकट किया—इसलिए दिग्नागपर और लिखनेका मतलब पुनरुक्ति और ग्रंथविस्तार होगा। दिग्नागके बारेमें मैंने अन्यत्र[1] लिखा है—

"दिग्नाग (४२५ ई०) वसुबन्धुके शिष्य थे, यह तिब्बतकी परंपरासे मालूम होता है। और तिब्बतमें इस सबधकी यह परंपराएं आठवीं शताब्दी-में भारतसे गई थीं, इसलिए उन्हे भारतीय-परंपरा ही कहना चाहिए। यद्यपि चीनी परंपरामें दिग्नागके वसुबंधुका शिष्य होनेका उल्लेख नहीं है, तो भी वहाँ उसके विरुद्ध भी कुछ नहीं पाया जाता। दिग्नागका काल वसुबंधु और कालिदासके बीचमें हो सकता है, और इस प्रकार उन्हें ४२५ ई० के आसपास माना जा सकता है। न्यायमुखके अतिरिक्त दिग्नागका मुख्य ग्रंथ **प्रमाणसमुच्चय** है, जो सिर्फ तिब्बती भाषामें ही मिलता है। उसी भाषामें प्रमाण समुच्चयपर महावैयाकरण काशिकाविवरणपंजिका (=न्यास)के कर्त्ता जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०)की टीका भी मिलती है।...."

दिग्नागका जन्म तमिल प्रदेशके काञ्ची (=कंजीवरम्)के पास "सिंहवक्र" नामके गाँवमें एक-ब्राह्मण घरमें हुआ था। सयाना होनेपर वह वात्सीपुत्रीय बौद्धसंप्रदायके एक भिक्षु नागदत्तके संपर्कमें आ भिक्षु बने। कुछ समय पढ़नेके बाद अपने गुरुसे उनका पुद्गल (=आत्मा)[2]के बारेमें

[1] **पुरातत्त्व-निबंधावली, पृष्ठ २१४-१५**

[2] **वात्सीपुत्रीय बौद्धोंके पुराने सम्प्रदायोंमें वह सम्प्रदाय है, जो अनात्मवादसे साफ इन्कार न करते भी, छिपे तौरसे एक तरहके आत्मवादका समर्थन करना चाहता था।**

मतभेद हो गया, जिसके कारण उन्होंने मठको छोड़ दिया, और वह उत्तर भारतमें आ आचार्य वसुवंधुके शिष्योंमें दाखिल हो गए, और न्यायशास्त्रका विशेषतौरसे अध्ययन किया। अध्ययनके बाद उन्होंने शास्त्रार्थोंमें प्रतिद्वंदियोंपर विजय (दिग्विजय) पाने और न्यायके थोड़ेसे किंतु गंभीर ग्रंथोंके लिखनेमें समय बिताया।

दिग्नागके प्रधान ग्रंथ प्रमाणसमुच्चयमें परिच्छेदों और श्लोकों (=कारिकाओं) की संख्या निम्न प्रकार है—

परिच्छेद	विषय	श्लोक संख्या
१	प्रत्यक्ष-परीक्षा	४८
२	स्वार्थानुमान-परीक्षा	५१
३	परार्थानुमान-परीक्षा	५०
४	दृष्टान्त-परीक्षा	२१
५	अपोह-परीक्षा	५२
६	जाति-परीक्षा	२५
		२४७

प्रमाण-समुच्चयका मूल संस्कृत अभी तक नहीं मिल सका है, मैंने अपनी चार तिब्बत-यात्राओंमें इस ग्रंथके ढूँढ़नेमें बहुत परिश्रम किया, किन्तु इसमें सफलता नहीं मिली; किन्तु मुझे अब भी आशा है, कि वह तिब्बतके किसी मठ, स्तूप या मूर्त्तिके भीतरसे जरूर कभी मिलेगा।

प्रमाणसमुच्चयके प्रथम श्लोकमें दिग्नागने ग्रंथ लिखनेका प्रयोजन इस प्रकार लिखा है[1]—

"जगत्के हितैषी प्रमाणभूत उपदेष्टा....बुद्धको नमस्कार कर, जहाँ-तहाँ फैले हुए अपने मतोंको यहाँ एक जगह प्रमाणसिद्धिके लिए जमा किया जायेगा।"

[1] **"प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।**
प्रमाणसिद्ध्यै स्वमतात् समुच्चयः करिष्यते विप्रसितादिहैकक:।"

दिग्नागने अपने ग्रंथोंमें दूसरे दर्शनों और वात्स्यायनके न्यायभाष्यकी तो इतनी तर्कसंगत आलोचना की है, कि वात्स्यायनके भाष्यपर पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाजको सिर्फ उसका उत्तर देनेके लिए **न्यायवार्त्तिक** लिखना पड़ा।[1]

धर्मकीर्त्ति (६०० ई०)

डाक्टर श्चेर्वात्स्कीके शब्दोंमें धर्मकीर्त्ति भारतीय कान्ट थे। धर्मकीर्त्तिकी प्रतिभाका लोहा उनके पुराने प्रतिद्वंदी भी मानते थे। उद्योतकर (५५० ई०)के "न्यायवार्त्तिक"को धर्मकीर्त्तिने अपने तर्कशस्त्रसे इतना छिन्न-भिन्न कर दिया था, कि वाचस्पति (८४१)ने उसपर टीका[2] करके (धर्मकीर्त्तिके) "तर्कपंकमें-मग्न उद्योतकरकी अत्यन्त बूढ़ी गायोंके उद्धार करने"का पुण्य प्राप्त करना चाहा। जयन्त भट्ट (१००० ई०)ने धर्मकीर्त्तिके ग्रंथोंके कडे आलोचक होते हुए भी उनके "सुनिपुणबुद्धि" होने, तथा उनके प्रयत्नको "जगदभिभव-धीर" माना।[3] अपनेको अद्वितीय कवि और दार्शनिक समझनेवाले श्रीहर्ष (११९२ ई०)ने धर्मकीर्त्तिके तर्कपथको "दुराबाध"[4] कहकर उनकी प्रतिभाका समर्थन किया। वस्तुतः धर्म-

[1] यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥
—न्यायवार्त्तिक १।१।१

[2] न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका १।१।१

[3] इति सुनिपुणबुद्धिर्लक्षणं वक्तुकामः पदयुगलमपीदं निर्ममे नानवद्यम्।
भवतु मतिमहिम्नश्चेष्टितं दृष्टमेतज्जगदभिभवधीरं धीमतो धर्मकीर्तेः।
—न्यायमंजरी, पृ० १००

[4] दुराबाध इव चायं धर्म्मकीर्तेः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति॥
—खण्डनखण्डखाद्य १

कीर्त्तिकी प्रतिभाका लोहा सबसे ज्यादा आजकी विद्वन्मंडली मान सकती है, क्योंकि आजकी दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रगतिमें उसके मूल्यको वह ज्यादा समझ सकते हैं।

१. जीवनी—धर्मकीर्त्तिका जन्म चोल (=उत्तर तमिल) प्रान्तके तिरुमलै नामक ग्राममें एक ब्राह्मणके घरमें हुआ था। उनके पिताका नाम तिब्बती परंपरामें कोरुनन्द (?) मिलता है, और किसी-किसीमें यह भी कहा गया है, कि वह कुमारिलभट्टके भांजे थे। यदि यह ठीक है—जिसकी बहुत कम संभावना है—तो मामाके तर्कोंका भांजेने जिस तरह प्रमाण-वार्त्तिकमें खंडन करते हुए मार्मिक परिहास किया है, वह उन्हें सजीव हास्य-प्रिय व्यक्तिके रूपमें हमारे सामने ला रखता है। धर्मकीर्त्ति बचपनसे ही बड़े प्रतिभाशाली थे। पहिले उन्होंने ब्राह्मणोंके शास्त्रों और वेदों-वेदांगोंका अध्ययन किया। उस समय बौद्धधर्मकी ध्वजा भारतके कोने-कोनेमें फहरा रही थी, और नागार्जुन, वसुबंधु, दिग्नागका बौद्धदर्शन विरोधियोंमें प्रतिष्ठा पा चुका था। धर्मकीर्त्तिको उसके बारेमे जाननेका मौका मिला और वह उससे इतने प्रभावित हुए कि तिब्बती परंपराके अनुसार उन्होंने बौद्ध गृहस्थोंके वेषमें बाहर आना जाना शुरू किया (?), जिसके कारण ब्राह्मणोंने उनका बहिष्कार किया। उस वक्त नालन्दाकी ख्याति भारतसे दूर-दूर तक फैली हुई थी। धर्मकीर्त्ति नालंदा चले आये और अपने समयके महान् विज्ञानवादी दार्शनिक तथा नालन्दाके संघ-स्थविर (=प्रधान) धर्मपालके शिष्य बन भिक्षुसंघमें सम्मिलित हुए।

धर्मकीर्त्तिकी न्यायशास्त्रके अध्ययनमें ज्यादा रुचि थी, और उसे उन्होंने दिग्नागकी शिष्य-परंपराके आचार्य ईश्वरसेनसे पढ़ा।

विद्या समाप्त करनेके बाद उन्होंने अपना जीवन ग्रंथ लिखने, शास्त्रार्थ करने और पढ़नेमें बिताया।

(धर्मकीर्त्तिका काल ६०० ई०)[१]—"चीनी पर्यटक इ-चिङने धर्म-

[१] मेरी "पुरातत्त्वनिबंधावली", पृष्ठ २१५-१७

कीर्त्तिका वर्णन अपने ग्रंथमे किया है, इसलिए धर्मकीर्त्ति ६७९ ई०से पहिले हुए, (इसमें संदेह नहीं)।....धर्मकीर्त्ति नालंदाके प्रधान आचार्य धर्मपालके शिष्य थे। युन्-च्वेङके समय (६३३ ई०) धर्मपालके शिष्य शीलभद्र नालंदाके प्रधान आचार्य थे, जिनकी आयु उस समय १०६ वर्षकी थी। ऐसी अवस्थामें धर्मपालके शिष्य धर्मकीर्त्ति ६३५ ई०मे वच्च नहीं हो सकते थे।.. .(धर्मकीर्त्तिके बारेमे) युन्-च्वेङकी चुप्पीका कारण हो सकता है युन्-च्वेङके नालन्दा-निवासके समयसे पहिले धर्मकीर्त्तिका देहान्त हो चुका होना हो।.

यह और दूसरी बातोंपर विचारते हुए धर्मकीर्त्तिका समय ६०० ई० ठीक मालूम होता है।

२. धर्मकीर्त्तिके ग्रंथ—धर्मकीर्त्तिने अपने ग्रंथ सिर्फ प्रमाण-संबद्ध बौद्धदर्शन या बौद्ध प्रमाणशास्त्रपर लिखे हैं। उनकी संख्या नौ है, जिनमें सात मूल ग्रंथ और दो अपने ही ग्रंथोंपर टीकाएं हैं।

ग्रंथनाम	ग्रंथपरिमाण (श्लोकोंमें)	गद्य या पद्य
१. प्रमाणवार्त्तिक	१४५४½	पद्य
२. प्रमाणविनिश्चय	१३४०	गद्य-पद्य
३. न्यायबिन्दु	१७७	गद्य
४. हेतुबिन्दु	४४४	गद्य
५. संबंध-परीक्षा	२६	पद्य
६. वाद-न्याय	७९८	गद्य-पद्य
७. सन्तानान्तर-सिद्धि	७२	पद्य
	४३१४½	

टीकाएं—

१. (८) वृत्ति	३५००	गद्य	प्रमाणवार्त्तिक १ परिच्छेदपर।
२. (९) वृत्ति	१४७	गद्य	संबंधपरीक्षापर
	३६४७		

गोया धर्मकीर्त्तिने मूल और टीका मिलाकर (४३१४½+३६४७) ७९६१½ श्लोकोंके बराबर ग्रंथ लिखे हैं। धर्मकीर्त्तिके ग्रंथ कितने महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे, यह इसीसे पता लगता है कि तिब्बती भाषामें अनुवादित बौद्ध न्यायके कुल संस्कृत ग्रंथोंके १७५००० श्लोकोंमें १३७००० धर्मकीर्त्तिके ग्रंथोंकी टीका-अनुटीकाओंके हैं।[2]

[1] श्लोकसे ३२ अक्षर समझना चाहिए।

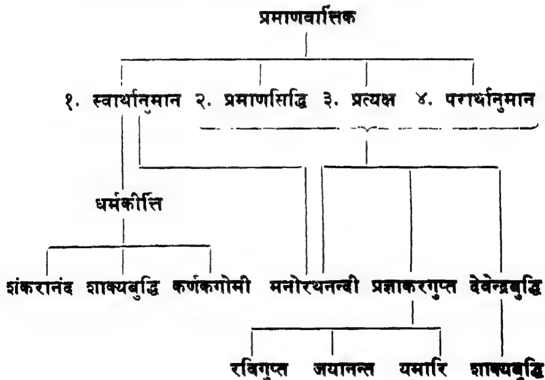
[2] टीकाएं इस प्रकार हैं—

मूल ग्रंथ	टीकाकार	किस परिच्छेदपर	ग्रंथ-परिमाण
१. प्रमाण-वार्त्तिक	१. देवेन्द्रबुद्धि (पंजिका) T	२-४	८,७४८
	२. शाक्यबुद्धि (पंजिका-टीका) T	२-४	१७,०४६
	३. प्रज्ञाकरगुप्त (भाष्य) TS	२-४	१६,२७६
	४. जयानन्त (भाष्यटीका) T	२-४	१८,१४८
	५. यमारि (भाष्यटीका) T	२-४	२६,५५२
	६. रविगुप्त (भाष्यटीका) T	२-४	७,५५२
	७. मनोरथनन्दी (वृत्ति) S	१-४	८,०००
	८. धर्मकीर्त्ति (स्ववृत्ति) TS	१	३,५००
	९. शंकरानंद (स्ववृत्ति-टीका) T (अपूर्ण)	१	७,५७८
	१०. कर्णकगोमी (स्ववृत्ति-टीका) S	१	१०,०००
	११. शाक्यबुद्धि (स्ववृत्तिटीका) T	१	. ..
२. प्रमाण-विनिश्चय	१. धर्मोत्तर (टीका) T	१-३	१२,४६३
	१. ज्ञानश्री (टीका) T		३,२७१
३. न्याय-विन्दु	१. विनीतदेव (टीका) T	१-३	१,०३०
	२. धर्मोत्तर (टीका) TS	१-३	१,४७७
	३. दुर्वेकमिश्र (अनु-टीका) S	१-३	....
	४. कमलशील (टीका) T		२२१

	५. जिनमित्र (टीका) T		३१
४. हेतुविन्दु	१. विनीतदेव (टीका) T	१-४	२,२६८
	२. अर्चट (विवरण) TS	१-४	१,७६८
	३. दुर्वेकमिश्र (अनु-टीका) T	१-४	,,
५. संबंध-परीक्षा	१. धर्मकीर्त्ति (वृत्ति) T		१४७
	५. विनीतदेव (टीका) T		५४८
	३. शंकरानंद (टीका) T		३८४
६. वादन्याय	१. विनीतदेव (टीका) T		६०६
	२. शान्तरक्षित (टीका) TS		२,६००
७. सन्तानान्तर-सिद्धि	१. विनीतदेव (टीका) T		४७४

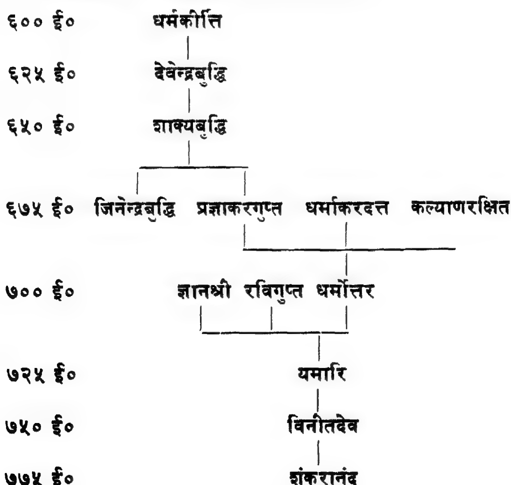
I. T. तिब्बती भाषानुवाद उपलब्ध, S=संस्कृत मूल, मौजूद।

II. प्रमाणवार्त्तिकके टीकाकारोंका क्रम इस प्रकार है—



(प्रमाणवार्त्तिक)—यह कह चुके हैं, कि धर्मकीर्त्तिका प्रमाण-वार्त्तिक दिग्नागके **प्रमाणसमुच्चय**की एक स्वतंत्र व्याख्या है। प्रमाणसमुच्चयके छै परिच्छेदोंको हम बतला चुके हैं। प्रमाणवार्त्तिकके चार परिच्छेदोंके विषय प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष-स्वार्थानुमान प्रमाण, और परार्थानुमान-प्रमाण हैं; किन्तु आमतौरसे पुस्तकोंमें यह क्रम पाया जाता है—स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष और परार्थानुमान। यह क्रम गलत है यह समझनेमें दिक्कत नहीं होती, जब हम देखते हैं कि प्रमाणसमुच्चयके जिस भागपर प्रमाणवार्त्तिक लिखा गया है, वह किस क्रममें है। इसके लिए देखिए, प्रमाणसमुच्चयके भाग और उसपरके प्रमाण-वार्त्तिकको——

III. **कालके साथ धर्मकीर्त्तिकी शिष्य-परंपरा—**



प्रमाणसमुच्चय	परिच्छेद	प्रमाणवार्त्तिक	परिच्छेद (होना चाहिए)
मंगलाचरण[1]	१।१	प्रमाणसिद्धि	(१)
प्रत्यक्ष	१	प्रत्यक्ष	(२)
स्वार्थानुमान	२	स्वार्थानुमान	(३)
परार्थानुमान	३	परार्थानुमान	(४)

प्रमाणसमुच्चयके बाकी परिच्छेदों—दृष्टान्त-,[2] अपोह-, जाति[3] (=सामान्य)-परीक्षाओं—के बारेमें अलग परिच्छेदोंमें न लिखकर धर्मकीर्त्तिने उन्हें प्रमाणवार्त्तिकके उन्हीं चार परिच्छेदोंमें प्रकरणके अनुकूल बाँट दिया है।

न्यायबिन्दु तथा धर्मकीर्त्तिके दूसरे ग्रंथोंमें भी प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान, परार्थानुमानके युक्तिसंगत क्रमको ही माना गया है, और मनोरथनन्दीने प्रमाणवार्त्तिकवृत्तिमें भी इसी क्रमको स्वीकार किया है; इसलिए, भाष्यों, पंजिकाओं, टीकाओं या मूलपाठोंमें सर्वत्र स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष, परार्थानुमानके क्रमको देखनेपर भी ग्रंथकारका क्रम यह नहीं बल्कि मनोरथनंदी द्वारा स्वीकृत क्रम ही ठीक सिद्ध होता है। क्रममें उलटपुलट होनेका कारण धर्मकीर्त्तिकी स्वार्थानुमानपर स्वरचित वृत्ति है। उनके शिष्य देवेन्द्रबुद्धिने ग्रंथकारकी वृत्तिवाले स्वार्थानुमान परिच्छेदको छोड़कर अपनी पंजिका लिखी, जिससे आगे वृत्ति और पंजिकाको अलग-अलग रखनेके लिए प्रमाणवार्त्तिकको दो भागोंमें कर दिया गया। इस विभागको और स्थायी रूप देनेमें प्रज्ञाकरगुप्तके भाष्य तथा देवेन्द्रबुद्धिकी पंजिकावाले तीनों परिच्छेदोंके चुनावने सहायता की। इस क्रमको सर्वत्र प्रचलित देखकर मूल कारिकाकी प्रतियोंमें भी लेखकोंको वही क्रम अपना लेना पड़ा।

[1] दर्शन० पृ० ६६० फुटनोट ६ [2] प्र० वा० ३।३७, ३।१३६
[3] वहीं २।१६३-७३ [4] वहीं २।५-५५; २।१४५-६२; ३।५५-१६१; ४।१३३-४८; ४।१७६-८८

यद्यपि मनोरथनंदी द्वारा स्वीकृत क्रमके अनुसार उनकी वृत्तिको मैंने सम्पादित किया है, और वह उपलभ्य है; तो भी मूल प्रमाणवार्त्तिकको मैंने सर्वस्वीकृत तथा तिब्बती-अनुवाद और तालपत्रमें मिले क्रमसे सम्पादित किया है, और प्रज्ञाकर गुप्तका प्रमाणवार्त्तिक-भाष्य (वार्त्तिकालंकार) उसी क्रमसे संस्कृतमें मिला प्रकाशित होनेके लिए तैयार है, इसलिए मैंने भी यहाँ परिच्छेद और कारिका देनेमें उसी सर्वस्वीकृत क्रमको स्वीकार किया है।

धर्मकीर्त्तिके दार्शनिक विचारोंपर लिखते हुए प्रमाणवार्त्तिकमें आए मुख्य-मुख्य विषयोंपर हम आगे कहने ही वाले हैं, तो भी यहाँ परिच्छेदके क्रमसे मुख्य विषयोंको दे देते हैं—

विषय	परिच्छेद कारिका	विषय	परिच्छेद कारिका
पहिला परिच्छेद (स्वार्थानुमान)		**तीसरा परिच्छेद** (प्रत्यक्षप्रमाण)	
१. ग्रंथ का प्रयोजन	१।१	१. प्रमाण दो ही— प्रत्यक्ष, अनुमान	३।१
२. हेतुपर विचार	१।३		
३. अभावपर विचार	१।५ (+४।१२९)	२. परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य	३।३
४. शब्दपर विचार	१।१८६	३. सामान्य कोई वस्तु नहीं	३।३ (+४।१३१)
५. शब्द प्रमाण नहीं	१।२१४	४. अनुमान प्रमाण	३।५५
६. अपौरुषेय वेद प्रमाण नहीं	१।२२५	५. प्रत्यक्ष प्रमाण	३।१२३
दूसरा परिच्छेद (प्रमाणसिद्धि)		६. प्रत्यक्षके भेद	३।१९१
१. प्रमाणका लक्षण	२।१		
२. बुद्धके वचन क्यों माननीय हैं।	२।२९	७. प्रत्यक्षाभास कौन हैं?	३।२८८
		८. प्रमाणका फल	३।३००

चौथा परिच्छेद

(परार्थानुमान)

३—धर्मकीर्त्तिका दर्शन

धर्मकीर्त्तिने सिर्फ प्रमाण (न्याय) शास्त्र ही पर सातों ग्रंथ लिखे हैं, और उन्हे दर्शनके बारेमें जो कुछ कहना था, उसे इन्हीं प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथोंमें कह दिया। इन सात ग्रंथोंमें **प्रमाणवार्त्तिक** (१४५४½ "श्लोक") **प्रमाण-विनिश्चय** (१३४० "श्लोक") **हेतुबिन्दु** (४४४ "श्लोक"), **न्यायबिन्दु** (१७७ "श्लोक")के प्रतिपाद्य विषय एक ही है, और उनमें सबसे बड़ा और संक्षेपमें अधिक बातोंपर प्रकाश डालनेवाला ग्रंथ प्रमाणवार्त्तिक है। **वादन्याय**में आचार्यने अक्षपादके अठारह निग्रहस्थानोंकी भारी भरकम सूचीको फजूल बतलाकर, उसे आधे श्लोकमें कह दिया है[1]—

"निग्रह (=पराजय) स्थान है (वादके लिए) अ-साधन, बातका कथन और (प्रतिवादीके) दोषका न पकड़ना।"

सम्बन्ध-परीक्षाकी २९ कारिकाओंमें धर्मकीर्त्तिने क्षणिकवादके अनुसार कार्य-कारण संबंध कैसे माना जा सकता है, इसे बतलाया है; यह विषय प्रमाणवार्त्तिकमें भी आया है।

[1] "असाधनांगवचनं अदोषोद्भावनं द्वयोः।"—वादन्याय, पृष्ठ १

सन्तानान्तरसिद्धिके ७२ सूत्रोंमें धर्मकीर्त्तिने पहिले तो इस मन-सन्तान (मन एक वस्तु नहीं बल्कि प्रतिक्षण नष्ट और नई उत्पन्न होती सन्तान=घटना है)से परे भी दूसरी-दूसरी मन-सन्तानें (सन्तानान्तर) हैं इसे सिद्ध किया है, और अन्तमें बतलाया है कि ये सब मन (=विज्ञान)-सन्तानें किस प्रकार मिलकर दृश्य जगत्‌को (विज्ञानवादके अनुसार) बाहर क्षेप करती हैं। विज्ञानवादकी चर्चा प्रमाणवार्त्तिकमें भी धर्मकीर्त्तिने की है।

धर्मकीर्त्तिके दर्शनको जाननेके लिए प्रमाणवार्त्तिक पर्याप्त है।

(१) तत्कालीन दार्शनिक परिस्थिति—धर्मकीर्त्ति दिग्नागकी भाँति असंगके योगाचार (विज्ञानवाद) दार्शनिक सम्प्रदायके माननेवाले थे। वसुबंधु, दिग्नाग, धर्मकीर्त्ति जैसे महान् तार्किकोंका शून्यवाद छोड़ विज्ञान-वादसे संबंध होना यह भी बतलाता है, कि हेगलकी तरह उन्हें भी अपने तर्कसम्मत दार्शनिक विचारोंके लिए विज्ञानवादकी बड़ी जरूरत थी। किन्तु धर्मकीर्त्ति शुद्ध योगाचार नहीं सौत्रांतिक (या स्वातंत्रिक) योगा-चारी माने जाते हैं। सौत्रांतिक बाहरी जगत्‌की सत्ताको ही मूलतत्त्व मानते हैं और योगाचारी सिर्फ विज्ञान (=चित्त, मन)को। सौत्रान्तिक (या स्वातंत्रिक) योगाचारका मतलब है, बाह्य जगत्‌की प्रवाह रूपी (क्षणिक) वास्तविकताको स्वीकार करते हुए विज्ञानको मूलतत्त्व मानना—ठीक हेगेलकी भाँति—जिसका अर्थ आजकी भाषामें होगा जड़ (=भौतिक)-तत्त्व विज्ञानका ही वास्तविक गुणात्मक परिवर्तन है। पुराने योगाचार दर्शनमें मूलतत्व विज्ञान (चित्त) का विश्लेषण करके उसे दो भागोंमें बाँटा गया था—**आलय**विज्ञान और **प्रवृत्ति**विज्ञान। प्रवृत्ति विज्ञान छै हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श—पाँचों ज्ञान-इंद्रियोंके पाँच विज्ञान (=ज्ञान), जो कि विषय तथा इन्द्रियके संपर्क होते वक्त रंग, आकार आदिकी कल्पना उठनेसे पहिले भान होते हैं; और छठा है मनका विज्ञान। आलय-विज्ञान उक्त छओं विज्ञानोंके साथ जन्मता-मरता भी अपने प्रवाह (=सन्तान)में सारे प्रवृत्ति-विज्ञानोंका आलय (=घर) है। इसीमें पहिलेके संस्कारोंकी वासना और आगे उत्पन्न होनेवाले विज्ञानोंकी **वासना**

रहती है। यद्यपि क्षणिकताके सदा साथ रहनेसे आलय-विज्ञानमें ब्रह्म या आत्माका भ्रम नहीं हो सकता था, तो भी वह एक तरहका रहस्यपूर्ण तत्त्व बन जाता था, जिसमें विमुक्तसेन, हरिभद्र, धर्मकीर्त्ति जैसे कितने ही विचारक इसमें प्रच्छन्न आत्मतत्त्वकी [illegible] करने लगे थे, और वे आलय-विज्ञानके इस सिद्धान्तको [illegible] समझते थे।[1] धर्मकीर्त्तिने **आलय**(-विज्ञान) शब्दका प्रयोग **प्रमाणवार्त्तिक**में किया है, किन्तु वह है विज्ञान साधारण—के अर्थमें, उसके पीछे वहाँ किसी अद्भुत रहस्यमयी शक्तिका ख्याल नहीं है।[2]

सन्तान रूपेण (क्षणिक [illegible] विच्छिन्नप्रवाहरूपमें) भौतिक जगत्की वास्तविकताको साफ तौरसे [illegible] करना चाहते थे, जैसा कि आगे मालूम होगा, किन्तु [illegible] कठिन था, यदि अपने तर्कोंमें जगह-जगह प्रयुक्त भौतिक [illegible] साफ स्वीकार करते हैं, तो धर्मका तकिया गिर जाता [illegible] भौतिकवादी बन जाते [illegible] विज्ञानवादी रहना जरूरी था। [illegible] कलम-कला [illegible] मिला, जब कि सामन्तवर्ग [illegible] जवान—व्यापारी और पूंजीपति—बाहर [illegible] अपना प्रभाव

---

[1] तिब्बती नैयायिक अम्-यङ-शत्-पा (मंजुघोषपाद १६४८-१७२२ ई०) अपने ग्रंथ "सप्तनिबंध-न्यायालंकार-सिद्धि" (अलंकार-सिद्धि) में लिखते हैं—"जो लोग कहते हैं कि (धर्मकीर्त्तिके) सात निबंधों (=ग्रंथों) के मन्तव्योंमें "आलय-विज्ञान" भी है, वह अन्धे हैं, अपने ही अज्ञानान्धकारमें रहनेवाले हैं।"—डाक्टर श्चेर्वास्कीकी Buddhist Logic, Vol. II, p. 329 के फुटनोटमें उद्धृत। [2] ३।५२२

[2] "आलय" शब्द पुराने पाली सूत्रोंमें भी मिलता है। किंतु वहाँ वह रुचि, अनुनय, या अध्यवसायके अर्थमें आता है। देखो "महाहत्थिपदोपम सुत्त" (मज्झिम-निकाय १।३।८), बुद्धचर्या, पृष्ठ १७६

बढ़ा रही थी, और हर क्षेत्रमें पुराने विचारोंको दकियानूसी कह भौतिक जगत्‌की वास्तविकतापर आधारित विचारोंको प्रोत्साहन दे रही थी। छठी सदी ईसवीके भारतमें अभी यह अवस्था आनेमे १४ सदियोंकी जरूरत थी; किंतु इसीको कम न समझिए कि भारतीय हेगेल् (धर्मकीर्त्ति) जर्मनीके हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०)मे बारह सदियों पहिले हुआ था।

(२) तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति—यहाँ जरा इस दर्शनके पीछेकी सामाजिक भित्तिको देखना चाहिए, क्योंकि दर्शन चाहे कितना ही हाड़-मांससे नफरत करते हुए अपनेको उससे ऊपर समझे; किन्तु, है वह भी हाड़-मांसकी ही उपज। वसुबंधुसे धर्मकीर्त्ति तकका समय (४००-६०० ई०) भारतीय दर्शनके (और काव्य, ज्योतिष, चित्र-मूर्त्ति, वास्तुकलाके भी)[१] चरम विकासका समय है। इस दर्शनके पीछे आप गुप्त—मौखरी—हर्षवर्द्धनके महान् तथा दृढ़ शासित साम्राज्यका हाथ भी कहना चाहेंगे; किन्तु महान् साम्राज्य कहकर हम मूल भित्तिको प्रकाशमें नहीं लाते, बल्कि उसे अन्धेरेमें छिपा देते हैं। उस कालका वह महान् साम्राज्य क्या था? कितने ही सामन्त-परिवार एक बड़े सामन्त—समुद्रगुप्त, हरिवर्मा या हर्षवर्द्धन—को अपने ऊपर मान, नये प्रदेशों, नये लोगोंको अपने आधीन करने या अपने आधीन जनताको दूसरेके हाथमें न जाने देनेके लिए सैनिक शासन—युद्ध—या युद्धकी तैयारी—करते; और अपने शासनमे पहिलेसे मौजूद या नवागत जनतामें "शान्ति और व्यवस्था" कायम रखनेके लिए नागरिक शासन करते थे। किन्तु यह दोनों प्रकारका शासन "पेटपर पत्थर बाँधकर" सिर्फ परोपकार बुद्धया नहीं होता था। साधारण जनतासे आया सैनिक—जिसकी संख्या लड़नेवालोंमे ही नहीं मरनेवालोंमें भी सबसे ज्यादा थी—को

[१] **काव्य—कालिदास, दंडी, बाण; ज्योतिष—आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त; चित्रकला—अजन्ता और बाग; मूर्त्तिकला—गुप्त कालिक पाषाण और पीतलमूर्त्तियाँ; वास्तुकला—अजंता, एलौराकी गुहा, देव, बर्नारकके मन्दिर।**

ज़रूर बहुत हद तक "पेटपर पत्थर बाँधना" पड़ता था; किन्तु सेनानायक सेनापति सामन्त-खान्दानोंमें आनेके कारण पहिले हीसे बड़ी संपत्तिके मालिक थे, और अपने इस पदके कारण बड़े वेतन, लूटकी अपार धनराशि, और जागीर तथा इनामके पानेवाले होते थे—गोया समुद्रमें मूसलाधार वर्षा हो रही थी। और नागरिक शासनके बड़े-बड़े अधिकारी—उपरिक (=भुक्तिका शासक या गवर्नर), कुमारामात्य (=विषयका शासक या कमिश्नर)—आनरेरी काम करनेवाले नहीं थे, वह प्रजासे भेंट (=रिश्वत), सम्राट्से वेतन, इनाम और जागीर लेते थे।

यह निश्चित है, कि आदमी जितना अपने आहार-विहार, वस्त्र-आभूषण तथा दूसरे न-टिकाऊ कामोंपर खर्च करता है, उससे बहुत कम उन वस्तुओंपर खर्च करता है, जो कि कुछ सदियों तक कायम रह सकती हैं। और इनमें भी अधिकांश सदियोंसे गुजरते कालके ध्वंसात्मक कृत्योंसे ही नहीं बर्बर मानव के क्रूर हाथोंसे नष्ट हो जाती है। तो भी बोधगया, बैजनाथके मन्दिर अथवा अजन्ता, एलौराके गुहाप्रासाद जो अब भी बच रहे हैं, अथवा कालिदासकी कृतियों और बाण भट्टकी कादम्बरीमें जिन नगर-अट्टालिकाओं राजप्रासादोंका वर्णन मिलता है, उनके देखनेसे पता लगता है कि इनपर उस समयका सम्पत्तिशाली वर्ग कितना धन खर्च करता था, और सब मिलाकर अपने ऊपर उनका कितना खर्च था। आज भी शौकीनी विलासकी चीजें महँगी मिलती हैं, किन्तु इस मशीनयुगमें यह चीजें मशीनसे बननेके कारण बहुत सस्ती हैं—अर्थात् उनपर आज जितने मानव हाथोंको काम करना पड़ता है, गुप्तकालमें उससे कई गुना अधिक हाथोंकी जरूरत पड़ती।

सारांश यह कि इस शासक सामन्तवर्गकी शारीरिक आवश्यकताओंके लिए ही नहीं बल्कि उनकी विलास-सामग्रीको पैदा करनेके लिए भी जनताकी एक भारी संख्याको अपना सारा श्रम देना पड़ता था। कितनी संख्या, इसका अन्दाज इसीसे लग सकता है, कि आजसे सौ वर्ष पहिले कम्पनीके शासनमें भारत जितना धन अपने, अंग्रेज शासकोंके लिए सालाना उनके

बढ़ा रही थी, और हर क्षेत्रमें पुराने विचारोंको दकियानूसी कह भौतिक जगत्की वास्तविकतापर आधारित विचारोंको प्रोत्साहन दे रही थी। छठी सदी ईसवीके भारतमें अभी यह अवस्था आनेमें १४ सदियोंकी ज़रूरत थी; किंतु इसीको कम न समझिए कि भारतीय हेगेल् (धर्मकीर्ति) जर्मनीके हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०)से बारह सदियों पहिले हुआ था।

(२) तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति—यहाँ जरा इस दर्शनके पीछेकी सामाजिक भित्तिको देखना चाहिए, क्योंकि दर्शन चाहे कितना ही हाड़-मांससे नफरत करते हुए अपनेको उससे ऊपर समझे; किन्तु, है वह भी हाड़-मांसकी ही उपज। वसुबंधुसे धर्मकीर्ति तकका समय (४००-६०० ई०) भारतीय दर्शनके (और काव्य, ज्योतिष, चित्र-मूर्त्ति, वास्तुकलाके भी)[1] चरम विकासका समय है। इस दर्शनके पीछे आप गुप्त—मौखरी—हर्षवर्द्धनके महान् तथा दृढ़ शासित साम्राज्यका हाथ भी कहना चाहेंगे; किन्तु महान् साम्राज्य कहकर हम मूल भित्तिको प्रकाशमें नहीं लाते, बल्कि उसे अन्धेरेमें छिपा देते हैं। उस कालका वह महान् साम्राज्य क्या था? कितने ही सामन्त-परिवार एक बड़े सामन्त—समुद्रगुप्त, हरिवर्मा या हर्षवर्द्धन—को अपने ऊपर मान, नये प्रदेशों, नये लोगोंको अपने आधीन करने या अपने आधीन जनताको दूसरेके हाथमें न जाने देनेके लिए सैनिक शासन—युद्ध—या युद्धकी तैयारी—करते; और अपने शासनमें पहिलेसे मौजूद या नवागत जनतामें "शान्ति और व्यवस्था" कायम रखनेके लिए नागरिक शासन करते थे। किन्तु यह दोनों प्रकारका शासन "पेटपर पत्थर बाँधकर" सिर्फ परोपकार बुद्धचा नहीं होता था। साधारण जनतासे आया सैनिक—जिसकी संख्या लड़नेवालोंमें ही नहीं मरनेवालोंमें भी सबसे ज्यादा थी—को

[1] काव्य—कालिदास, दंडी, वाण; ज्योतिष—आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त; चित्रकला—अजन्ता और बाग; मूर्त्तिकला—गुप्त कालिक पाषाण और पीतलमूर्त्तियाँ; वास्तुकला—अजंता, एलौराकी गुहा, देव, बर्नारकके मन्दिर।

ज़रूर बहुत हद तक "पेटपर पत्थर बाँधना" पड़ता था; किन्तु सेनानायक सेनापति सामन्त-खान्दानोंमें आनेके कारण पहिले हीसे बड़ी संपत्तिके मालिक थे, और अपने इस पदके कारण बड़े वेतन, लूटकी अपार धनराशि, और जागीर तथा इनामके पानेवाले होते थे—गोया समुद्रमें मूसलाधार वर्षा हो रही थी। और नागरिक शासनके बड़े-बड़े अधिकारी—उपरिक (=भुक्तिका शासक या गवर्नर), कुमारामात्य (=विषयका शासक या कमिश्नर)—आनरेरी काम करनेवाले नहीं थे, वह प्रजासे भेंट (=रिश्वत), सम्राट्से वेतन, इनाम और जागीर लेते थे।

यह निश्चित है, कि आदमी जितना अपने आहार-विहार, वस्त्र-आभूषण तथा दूसरे न-टिकाऊ कामोंपर खर्च करता है, उससे बहुत कम उन वस्तुओंपर खर्च करता है, जो कि कुछ सदियों तक कायम रह सकती हैं। और इनमें भी अधिकांश सदियोंसे गुजरते कालके ध्वसात्मक कृत्योंसे ही नहीं बर्बर मानव के क्रूर हाथोंसे नष्ट हो जाती है। तो भी बोधगया, बैजनाथके मन्दिर अथवा अजन्ता, एलौराके गुहाप्रासाद जो अब भी बच रहे हैं, अथवा कालिदासकी कृतियों और बाण भट्टकी कादम्बरीमें जिन नगर-अट्टालिकाओं राजप्रासादोंका वर्णन मिलता है, उनके देखनेसे पता लगता है कि इनपर उस समयका सम्पत्तिशाली वर्ग कितना धन खर्च करता था, और सब मिलाकर अपने ऊपर उनका कितना खर्च था। आज भी शौकीनी विलासकी चीजें महँगी मिलती हैं, किन्तु इस मशीनयुगमें यह चीजें मशीनसे बननेके कारण बहुत सस्ती हैं—अर्थात् उनपर आज जितने मानव हाथोंको काम करना पड़ता है, गुप्तकालमें उससे कई गुना अधिक हाथोंकी ज़रूरत पड़ती।

सारांश यह कि इस शासक सामन्तवर्गकी शारीरिक आवश्यकताओंके लिए ही नहीं बल्कि उनकी विलास-सामग्रीको पैदा करनेके लिए भी जनताकी एक भारी संख्याको अपना सारा श्रम देना पड़ता था। कितनी संख्या, इसका अन्दाज इसीसे लग सकता है, कि आजसे सौ वर्ष पहिले कम्पनीके शासनमें भारत जितना धन अपने, अंग्रेज शासकोंके लिए सालाना उनके

बढ़ा रही थी, और हर क्षेत्रमें पुराने विचारोंको दकियानूसी कह भौतिक जगत्की वास्तविकतापर आधारित विचारोंको प्रोत्साहन दे रही थी। छठी सदी ईसवीके भारतमें अभी यह अवस्था आनेमें १४ सदियोंकी जरूरत थी; किंतु इसीको कम न समझिए कि भारतीय हेगेल् (धर्मकीर्त्ति) जर्मनीके हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०)से बारह सदियों पहिले हुआ था।

(२) **तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति**—यहाँ जरा इस दर्शनके पीछेकी सामाजिक भित्तिको देखना चाहिए, क्योंकि दर्शन चाहे कितना ही हाड़-मांससे नफरत करते हुए अपनेको उससे ऊपर समझे; किन्तु, है वह भी हाड़-मांसकी ही उपज। वसुबंधुसे धर्मकीर्त्ति तकका समय (४००-६०० ई०) भारतीय दर्शनके (और काव्य, ज्योतिष, चित्र-मूर्त्ति, वास्तुकलाके भी)[1] चरम विकासका समय है। इस दर्शनके पीछे आप गुप्त—मौखरी—हर्ष-वर्द्धनके महान् तथा दृढ़ शासित साम्राज्यका हाथ भी कहना चाहेंगे; किन्तु महान् साम्राज्य कहकर हम मूल भित्तिको प्रकाशमें नहीं लाते, बल्कि उसे अन्धेरेमें छिपा देते हैं। उस कालका वह महान् साम्राज्य क्या था? कितने ही सामन्त-परिवार एक बड़े सामन्त—समुद्रगुप्त, हरिवर्मा या हर्षवर्द्धन—को अपने ऊपर मान, नये प्रदेशों, नये लोगोंको अपने आधीन करने या अपने आधीन जनताको दूसरेके हाथमें न जाने देनेके लिए सैनिक शासन—युद्ध—या युद्धकी तैयारी—करते; और अपने शासनमें पहिलेसे मौजूद या नवागत जनतामें "शान्ति और व्यवस्था" कायम रखनेके लिए नागरिक शासन करते थे। किन्तु यह दोनों प्रकारका शासन "पेटपर पत्थर बांधकर" सिर्फ परोपकार बुद्धया नहीं होता था। साधारण जनतासे आया सैनिक—जिसकी संख्या लड़नेवालोंमें ही नहीं मरनेवालोंमें भी सबसे ज्यादा थी—को

[1] **काव्य—कालिदास, दंडी, वाण; ज्योतिष—आर्यभट्ट, वराह-मिहिर, ब्रह्मगुप्त; चित्रकला—अजन्ता और बाग; मूर्त्तिकला—गुप्त कालिक पाषाण और पीतलमूर्त्तियाँ; वास्तुकला—अजंता, एलौराकी गुहा, देव, बर्नारकके मन्दिर।**

ज़रूर बहुत हद तक "पेटपर पत्थर बाँधना" पड़ता था; किन्तु सेनानायक सेनापति सामन्त-खान्दानोंमें आनेके कारण पहिले हीसे बड़ी संपत्तिके मालिक थे, और अपने इस पदके कारण बड़े वेतन, लूटकी अपार धनराशि, और जागीर तथा इनामके पानेवाले होते थे—गोया समुद्रमें मूसलाधार वर्षा हो रही थी। और नागरिक शासनके बड़े-बड़े अधिकारी—उपरिक (=भुक्तिका शासक या गवर्नर), कुमारामात्य (=विषयका शासक या कमिश्नर)—आनरेरी काम करनेवाले नहीं थे, वह प्रजासे भेंट (=रिश्वत), सम्राट्से वेतन, इनाम और जागीर लेते थे।

यह निश्चित है, कि आदमी जितना अपने आहार-विहार, वस्त्र-आभूषण तथा दूसरे न-टिकाऊ कामोंपर खर्च करता है, उसमें बहुत कम उन वस्तुओंपर खर्च करता है, जो कि कुछ सदियों तक कायम रह सकती हैं। और इनमें भी अधिकांश सदियोंमें गुजरते कालके ध्वंसात्मक कृत्योंसे ही नहीं बर्बर मानव के क्रूर हाथोंमें नष्ट हो जाती है। तो भी बोधगया, बैजनाथके मन्दिर अथवा अजन्ता, एलौराके गुहाप्रासाद जो अब भी बच रहे हैं, अथवा कालिदासकी कृतियों और बाण भट्टकी कादम्बरीमें जिन नगर-अट्टालिकाओं राजप्रासादोंका वर्णन मिलता है, उनके देखनेसे पता लगता है कि इनपर उस समयका सम्पत्तिशाली वर्ग कितना धन खर्च करता था, और सब मिलाकर अपने ऊपर उनका कितना खर्च था। आज भी शौकीनी विलासकी चीजें महँगी मिलती हैं, किन्तु इस मशीनयुगमें यह चीजें मशीनसे बननेके कारण बहुत सस्ती हैं—अर्थात् उनपर आज जितने मानव हाथोंको काम करना पड़ता है, गुप्तकालमें उससे कई गुना अधिक हाथोंकी ज़रूरत पड़ती।

सारांश यह कि इस शासक सामन्तवर्गकी शारीरिक आवश्यकताओंके लिए ही नहीं बल्कि उनकी विलास-सामग्रीको पैदा करनेके लिए भी जनताकी एक भारी संख्याको अपना सारा श्रम देना पड़ता था। कितनी संख्या, इसका अन्दाज इसीसे लग सकता है, कि आजसे सौ वर्ष पहिले कम्पनीके शासनमें भारत जितना धन अपने, अंग्रेज शासकोंके लिए सालाना उनके

घर भेजता था, उसके उपार्जनके लिए छै करोड़ आदमियों—या सारी जनसंख्याके चौथाईसे अधिक—के श्रमकी आवश्यकता होती थी। इसके अतिरिक्त वह खर्च अलग था, जिसे अंग्रेज कर्मचारी भारतमें रहते खर्च करते थे।

यही नहीं कि जनताके आधे तिहाई भागको शासकोंके लिए इस तरहकी वस्तुओंको अपने श्रमसे जुटाना पड़ता था; बल्कि उनकी काम-वासनाकी तृप्तिके लिए लाखों स्त्रियोंको देह या अवैधरूपसे अपना शरीर बेचना पड़ता था; उनकी एक बड़ी संख्याको दासी बनकर बिकना पड़ता था। मनुष्यका दास-दासीके रूपमें सरेबाज़ार बिकना उस वक्तका एक आम नज़ारा था।

अर्थात् उस दर्शन—कला—साहित्यके महान् युगकी सारी भव्यता मनुष्यकी पशुवत् परतंत्रता और हृदयहीन गुलामीपर आधारित थी—यह हमें नहीं भूलना चाहिए। फिर दार्शनिक दृष्टिसे क्रान्तिकारीसे क्रान्तिकारी विचारकको भी अपनी विचार-संबंधी क्रान्तिको उस सीमाके अन्दर रखना ज़रूरी था, जिसके बाहर जाते ही शासक-वर्गके कोपका भाजन—चाहे सीधे राजदंडके रूपमें, उसकी कृपासे वंचित होनेके रूपमें, चाहे उसके स्थापित धर्म-मठ-मन्दिरमें स्थान न पानेके रूपमें—होना पड़ता। उस वक्त "शान्ति और व्यवस्था"की बाढ़ आजसे बहुत लम्बी थी, जिसमें बचनेमें धार्मिक सहानुभूति ही थोड़ा बहुत सहायक हो सकती थी, जिसने उसको खोया उसके जीवनका मूल्य एक घोषित डाकूके जीवनसे अधिक नहीं था।

धर्मकीर्त्ति जिस नालन्दाके रत्न थे, उसको गाँवों और नगरके रूपमें बड़े-बड़े दान देनेवाले यही सामन्त थे, जिनके ताम्रपत्रपर लिखे दानपत्र आज भी हमें काफी मिले हैं। युन्-च्वेड्के समय (६४० ई०)में वहाँके दस हजार विद्यार्थियों और पंडितोंपर जिस तरह खुले हाथों धन खर्च किया जाता था, यह हो नहीं सकता था, कि प्रमाणवार्त्तिककी पंक्तियाँ उन हाथोंको भुलाकर उन्हें काटनेपर तुल जातीं; इसीलिए स्वातंत्रिक (वस्तुवादी) धर्मकीर्त्ति भी दुःखकी व्याख्या आध्यात्मिक तलसे ही करके छुट्टी ले लेते

है। विश्वके कारणको ईश्वर आदि छोड़ विश्वमें, उसके क्षुद्रतम तथा महत्तम अवयवोंकी क्षणिक परिवर्तनशीलता तथा गुणात्मक परिवर्तनके रूपमें ढूँढ़नेवाले धर्मकीर्ति दुःखके कारणको अलौकिक रूपमें—पुनर्जन्ममें—निहित बतलाकर साकार और वास्तविक दुःखके लिए साकार और वास्तविक कारणके पता लगानेसे मुँह मोड़ते हैं। यदि जनताके एक तिहाई उन दासों तथा संख्यामें कम-से-कम उनके बराबरके उन अर्धदासोंको—जो कि सूद और व्यापारके नफ़ेके रूपमें अपने श्रमको सफ़ा देते थे—नाममात्र मुक्त कर, उनके श्रमको सारी जनता—जिसमें तत्कालीन भी शामिल थे—के हितमें लगाया जाता; यदि सामन्त परिवारों और वणिक्-श्रेष्ठी-परिवारोंके निठल्लेपन कामचोरपनको हटाकर उन्हें भी समाजके लिए लाभदायक काम करनेके लिए मजबूर किया जाता, तो निश्चय ही उस समयके साकार दुःखकी मात्रा बहुत हद तक कम होती। हाँ, यह ठीक है, कामचोरपनके हटानेका अभी समय नहीं था, यह प्रयत्न चाहे होता उस वक्त असफल होती, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु यही बात तो उस वक्तकी सभी दार्शनिक उड़ानोंमें सभी धार्मिक मनोहर कल्पनाओंके बारेमें थी। सफल न होनेपर भी दार्शनिककी गलती एक अच्छे कामकी ओर होती है, उसकी सहृदयता और निर्भीकताकी दाद आ जाती; यदि उपेक्षा और शत्रुप्रहारसे उसकी कृतियाँ नष्ट हो जातीं, तो भी खंडनके लिए उद्धृत उसकी प्रतिभाके प्रखरतीर सदियोंको चीरकर मानवताके पास पहुँचते, और उसे नया संदेश देते।

(३) **विज्ञानवाद**—सहृदय मस्तिष्कमें वास्तविक दुनिया (भौतिकवाद)को भुलाने-भुलवानेमें दार्शनिक विज्ञानवाद वही काम देता है, जो कि शराबकी बोतल काममें चूर मजदूरको अपने कष्टोंको भुलवानेमें। चाहे क्रूर दासताकी सहायतासे ही सही, मनुष्यका मस्तिष्क और हृदय तब तक बहुत अधिक विकसित हो चुका था, उसमें अपने साथी प्राणियोंके लिए संवेदना आना स्वाभाविक सी बात थी। आसपासके लोगोंकी दयनीय दशाको देखकर हो नहीं सकता था, कि वह उसे महसूस न करता, विकल न होता। जगत्को झूठा कह इस विकलताको दूर करनेमें दार्शनिक

विज्ञानवाद कुछ सहायता जरूर करता था—आखिर अभी "दार्शनिकोंका काम जगत्‌की व्याख्या करना था, उसे बदलना नहीं।"

धर्मकीर्त्ति बाह्यजगत्—भौतिक तत्त्वों—को अवास्तविक बतलाते हुए विज्ञान (=चित्त)को असली तत्त्व साबित करते हैं—

(क) विज्ञान ही एक मात्र तत्त्व—हम किसी वस्तु (=कपड़े)को देखते हैं, तो वहाँ हमे नीला, पीला रंग तथा लंबाई, चौड़ाई-मुटाई, भारीपन-चिकनापन आदिको छोड़ केवल रूप (=भौतिक-तत्त्व) नहीं दिखाई पड़ता।[1] दर्शन नील आदिके तौरपर होता है, उससे रहित (वस्तु)का (प्रत्यक्ष या अनुमानसे) ग्रहण ही नहीं हो सकता और नीलादिके ग्रहणपर ही (उसका) ग्रहण होता है। इसलिए जो कुछ दर्शन है वह नील आदिके तौरपर है, केवल बाह्यार्थ (=भौतिक तत्त्व)के तौरपर नहीं है।[2] जिसको हम भौतिक तत्त्व या बाह्यार्थ कहते हैं, वह क्या है इसका विश्लेषण करें तो वहाँ आँखसे देखे रंग-आकार, हाथसे छुए सख्त-नरम-चिकनापन, आदि ही मिलता है; फिर यह इंद्रियाँ इनके इस स्थूल रूपमें अपने निजी ज्ञान (चक्षु-विज्ञान, .स्पर्श-विज्ञान....) द्वारा मनको कल्पना करनेके लिए नहीं प्रदान करतीं। मनका निर्णय इन्द्रिय चर्वित ज्ञानके पुनः चर्वणपर निर्भर है; इस तरह जहाँसे अन्तिम निर्णय होता है, उस मनमें तथा जिनकी दी हुई सामग्रीके आधारपर मन निर्णय करता है, उन इन्द्रियोंके विज्ञानोंमें भी, बाह्य-अर्थ (=भौतिक तत्त्व)का पता नहीं; निर्णायक स्थानपर हमें सिर्फ विज्ञान (=चेतना) ही विज्ञान मिलता है, इसलिए "वस्तुओं द्वारा वही (विज्ञान) सिद्ध है, जिससे कि विचारक कहते हैं—'जैसे-जैसे अर्थों (=पदार्थों)पर चिन्तन किया जाता है, वैसे ही वैसे वह छिन्न-भिन्न हो लुप्त हो जाते हैं (—उनका भौतिक रूप नहीं सिद्ध होता)।'"[3]

(ख) चेतना और भौतिक तत्त्व विज्ञान हीके दो रूप—विज्ञान-का भीतरी आकार चित्त—सुख आदिका ग्राहक—है, यह तो स्पष्ट है; किन्तु

[1] प्रमाण-वार्त्तिक ३।२०२ [2] प्र० वा० ३।३३५ [3] प्र० वा० ३।२०९

जो बाहरी पदार्थ (=भौतिक तत्त्व घड़ा या कपड़ा) है, वह भी विज्ञानसे अलग नहीं बल्कि विज्ञानका ही एक दूसरा भाग है, और बाहरमें अवस्थित सा जान पड़ता है—इसे अभी बतला आए है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही विज्ञान भीतर (चित्तके तौरपर) ग्राहक, और बाहर (विषयके तौरपर) ग्राह्य भी है। "विज्ञान जब अभिन्न है, तो उसका (भीतर और बाहरके विज्ञान तथा भौतिक तत्त्वके रूपमें) भिन्न प्रतिभासित होना सत्य नहीं (भ्रम) है।"[1] "ग्राह्य (बाह्य पदार्थके रूपमें मालूम पड़नेवाला विज्ञान) और ग्राहक (=भीतरी चित्तके रूपमें विज्ञान) मेंसे एकके भी अभावमें दोनों ही नहीं रहते (ग्राहक नहीं रहेगा, तो ग्राह्य है इसका कैसे पता लगेगा? और फिर ग्राह्यके न रहनेपर अपनी ग्राहकताको दिखलाकर ग्राहक चित्त अपनी सत्ताको कैसे सिद्ध करेगा? इस तरह किसी एकके अभावमें दोनों नहीं रहते); इसलिए ज्ञानका भी तत्त्व है (ग्राह्य-ग्राहक) दो होनेका अभाव (=अभिन्नता)।"[2] जो आकार-प्रकार (बाहरी पदार्थोंके मौजूद है, वह) ग्राह्य और ग्राहकके आकारको छोड़ (और किसी आकारमें) नहीं मिलते, (और ग्राह्य ग्राहक एक ही निराकार विज्ञानके दो रूप हैं), इसलिए आकार-प्रकारसे शून्य होनेसे (सारे पदार्थ) निराकार कहे गए हैं।"[3]

प्रश्न हो सकता है यदि बाह्य पदार्थोंकी वस्तुसत्ताको अस्वीकार करते हैं, तो उनकी भिन्नताको भी अस्वीकार करना पड़ेगा, फिर बाहरी अर्थोंके बिना "यह घड़ा है, यह कपड़ा" इस तरह ज्ञानोंका भेद कैसे होगा? उत्तर है—

"किसी (घड़े आदि आकारवाले ज्ञान) का कोई (एक ज्ञान) है, जो कि (चित्तके) भीतरवाली वासना (=पूर्व संस्कार) को जगाता है, उसी (वासनाके जगने) से ज्ञानों (की भिन्नता) का नियम देखा जाता है, न कि बाहरी पदार्थकी अपेक्षासे।"[4]

[1] प्र० वा० ३।२१२　　[2] प्र० वा० ३।२१३
[3] प्र० वा० ३।२१५　　[4] प्र० वा० ३।३३६

"चूँकि बाहरी पदार्थका अनुभव हमें नहीं होता, इसलिए एक ही (विज्ञान) दो (=भीतरी ज्ञान, बाहरी विषय) रूपोंवाला (देखा जाता) है, और दोनों रूपोंमें स्मरण भी किया जाता है। इस (एक ही विज्ञानके बाह्य-अन्तर दोनों आकारोंके होने)का परिणाम है, स्व-संवेदन (अपने भीतर ज्ञानका साक्षात्कार)।"[1]

फिर प्रश्न होता है—"(वह जो बाह्य-पदार्थके रूपमें) अवभासित होनेवाला (ज्ञान है), उसका जैसे कैसे भी जो (बाहरी) पदार्थवाला रूप (भासित हो रहा है), उसे छोड़ देनेपर पदार्थ (=घड़े)का ग्रहण (=इन्द्रिय-प्रत्यक्ष आदि) कैसे होगा? (आखिर अपने स्वरूपके ज्ञानके साक्षात्कारमें ही तो पदार्थोंका अपना अपना ग्रहण है?)—(प्रश्न) ठीक है, मैं भी नहीं जानता कैसे यह होता है।....जैसे मंत्र (हेप्नाटिज़म) आदिमें जिनकी (आँख आदि) इन्द्रियोंका बाध दिया गया है; उन्हें मिट्टीके ठीकरे (रुपया आदि) दूसरे ही रूपमें दीखते हैं; यद्यपि वह (वस्तुतः) उस (रुपये....)के रूपसे रहित है।"[2]

इस तरह यद्यपि अन्तर, बाहर सभी एक ही विज्ञान तत्त्व है, किन्तु "तत्त्व-अर्थ (=वास्तविकता)की ओर न ध्यान दे हाथीकी तरह आँख मूँदकर सिर्फ लोक व्यवहारका अनुसरण करते तत्त्वज्ञानियोंको (कितनी ही बार) बाहरी (पदार्थों)का चिन्तन (=वर्णन) करना पड़ता है।"[3]

(४) **क्षणिकवाद**—बुद्धके दर्शनमें "सब अनित्य है" इस सिद्धांतपर बहुत जोर दिया गया है, यह हम बतला आए हैं। इसी अनित्यवादको पीछेके बौद्ध दार्शनिकोंने **क्षणिकवाद** कहकर उसे अभावात्मकसे भावात्मक रूप दिया। धर्मकीर्त्तिने इसपर और जोर देते हुए कहा—"सत्ता मात्रमें नाश (=धर्म) पाया जाता है।"[4] इस भावको पीछे ज्ञानश्री (७००

[1] प्र० वा० ३।३३७
[2] प्र० वा० ३।३५३-५५ [3] वहीं ३।२१६
[4] प्र० वा० १।२७२—"सत्तामात्रानुबन्धित्वात् नाशस्य"

ई०)ने कहा है—"जो (जो) सत् (=भाव रूप) है, वह क्षणिक है।"[1] "सभी संस्कार (=किए हुए पदार्थ) अनित्य हैं" इस बुद्धवचनकी ओर इशारा करते हुए धर्मकीर्त्तिने कहा है[2]—"जो कुछ उत्पन्न स्वभाववाला है, वह नाश स्वभाववाला है।" अनित्य क्या है, उसे बतलाते हुए लिखा है—"पहिले होकर जो भाव (=पदार्थ) पीछे नहीं रहता, वह **अनित्य** है।"[3]

इस प्रकार बिना किसी अपवादके क्षणिकताका नियम सारे भाव (=सत्ता) रखनेवाले पदार्थोंमें है।

(५) परमार्थ सत्‌की व्याख्या—अफलातूँ और उपनिषद्‌के दर्शनकार क्षण-क्षण परिवर्तनशील जगत् और उसके पदार्थोंके पीछे एक अपरिवर्तनशील तत्त्वको परमार्थ सत् मानते हैं किन्तु बौद्ध दर्शनको ऐसे इन्द्रिय और बुद्धिकी पहुँचसे परे किसी तत्त्वको माननेकी जरूरत न थी, इसलिए धर्मकीर्त्तिने परमार्थ सत्‌की व्याख्या करते हुए कहा—

"अर्थवाली क्रियामें जो समर्थ है, वही यहाँ परमार्थ सत् है, इसके विरुद्ध जो (अर्थक्रियामें असमर्थ) है, वह संवृति (=फ़र्जी) सत् है।"[4] घड़ा, कपड़ा, परमार्थ सत् है, क्योंकि वह अर्थक्रिया-समर्थ है, उनसे जल-आनयन या सर्दी-गर्मीका निवारण हो सकता है; किन्तु घड़ापन, कपड़ापन जो **सामान्य** (=जाति) माने जाते हैं, वह संवृति (=काल्पनिक या फ़र्जी) सत् है। क्योंकि उनसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती। इस तरह व्यक्ति और उनका नानापन ही परमार्थसत् है। "(वस्तुतः सारे) भाव (=पदार्थ) स्वयं भेद (=भिन्नता) रखनेवाले हैं, किन्तु उसी संवृत्ति (=कल्पना)से जब उनके नानापन (=अलग-अलग घड़ों)को ढाँक दिया जाता है, तो वह किसी (घड़ापन) रूपसे अभिन्नसे मालूम होने लगते हैं।"[5]

[1] **"यत् सत् तत् क्षणिकं"—क्षणभंग १।१ (ज्ञानश्री)**
[2] **प्र० वा० २।२८४-५** [3] **वहीं ३।११०** [4] **वहीं ३।३**
[5] **प्र० वा० १।७१**

(६) नाश अहेतुक होता है—क्षणिकता सारे भावों (=पदार्थो)में स्वभावमें ही है, इसलिए नाश भी स्वाभाविक है; फिर नाशके लिए किसी हेतु या हेतुओंकी जरूरत नहीं—अर्थात् नाश अहेतुक है; वस्तु की उत्पत्तिके लिए हेतु या बहुतसे हेतु (=हेतु-सामग्री) चाहिए, जिससे कि पहिले न मौजूद पदार्थ भावमें आवे। चूँकि एक मौजूद वस्तुका नाश और दूसरी ना-मौजूद वस्तुकी उत्पत्ति पास-पास होती है, इसलिए हमारी भाषामें कहनेकी यह गलत परिपाटी पड़ गई है, कि हम हेतुको उत्पन्न वस्तुसे न जोड़ नष्टमें जोड़ देते हैं। इसी तथ्यको साबित करते हुए धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

(क) अभाव रूपी नाशको हेतु नहीं चाहिए—"यदि कोई कार्य (करणीय पदार्थ) हो, तो उसके लिए किसी (=कारण)की जरूरत हो सकती है; (नाश) जो कि (अभाव रूप होनेसे) कोई वस्तु ही नहीं है, उसके लिए कारणकी क्या जरूरत ?"[1]

"जो कार्य (=कारणसे उत्पन्न) है वह अनित्य है, जो अ-कार्य (=कारणसे नहीं उत्पन्न) है, वह अ-विनाशी (=नित्य) है। (वस्तुका विनाश नित्य अर्थात् हमेशाके लिए होता है, इसलिए वह अ-कार्य= अ-हेतुक है; फिर इस प्रकार) अहेतुक होनेसे वह (=नाश) स्वभावतः (वस्तुमात्रका) अनुसरण करता है।"[2] और इस प्रकार विनाशके लिए हेतुकी जरूरत नहीं।

(ख) नश्वर या अनश्वर दोनों अवस्थाओंमें भावके नाशके लिए हेतु नहीं चाहिए—"यदि (हम उसे अनश्वर मान लें, तब) दूसरे किसी (हेतु)से भावका नाश न मानेंगे, फिर ऐसे (अनश्वर भाव)की स्थिति के लिए हेतुकी क्या जरूरत ? (—अर्थात् भावका होना अहेतुक हो जायेगा)। (यदि हम भावको नश्वर मान लें, तो) वह दूसरे (हेतुओं=कारणों) के बिना भी नष्ट होगा, (फिर उसकी) स्थितिके लिए हेतु असमर्थ होंगे।"[3]

[1] प्र० वा० १।२८२ [2] वहीं १।१९५ [3] वहीं २।७०

"जो स्वयं अनश्वर स्वभाववाला है, उसके लिए दूसरे स्थापककी ज़रूरत नहीं; जो स्वयं नश्वर स्वभाववाला है, उसके लिए भी दूसरे स्थापककी ज़रूरत नहीं ।"[1] इस तरह विनाशको नश्वर स्वभाववाला मानें या अनश्वर स्वभाववाला, दोनों हालतोंमें उसे स्थित रखनेवाले हेतुकी ज़रूरत नहीं ।

(a) **भावके स्वरूपसे नाश भिन्न हो या अभिन्न, दोनों अवस्थाओंमें नाश अहेतुक**—आग और लकड़ी एकत्रित होती है, फिर हम लकड़ीका नाश और कोयले-राखकी उत्पत्ति देखते हैं। इसीको हम व्यवहार-की भाषामें "आगने लकड़ीको जला दिया—नष्ट कर दिया" कहते हैं, किंतु वस्तुतः कहना चाहिए "आगने कोयले-राखको उत्पन्न किया।" चूँकि लकड़ी हमारी नजरमें कोयले-राखसे अधिक उपयोगी (=मूल्यवान्) है, इसीलिए यहाँ भाषा द्वारा हम अपने लिए एक उपयोगी वस्तुके खो देनेपर ज्यादा जोर देते हैं। यदि कोयला-राख लकड़ीसे ज्यादा उपयोगी होते तो हम "आगने लकड़ीका नाश कर दिया" की जगह कहते "आगने कोयला-राखको बनाया।" वस्तुतः जंगलोंमें जहा मजदूर लकड़ीकी जगह कोयला बनाकर बेचनेमें ज्यादा लाभ देखते है, वहा "क्या काम करते हो" पूछनेपर यह नही कहते कि "हम लकड़ीका नाश करते है," बल्कि कहते है "हम कोयला बनाते है।" ताताके कारखानेमें (लोहेवाले) पत्थरका नाश और लोहे या फोलाद-का उत्पादन होता है; किन्तु वहा नाशको स्वाभाविक (=अहेतुक) समझकर उसकी बात न कह, यही कहा जाता है, कि ताता प्रति वर्ष इतने करोड़ मन लोहा और इतने लाख मन फौलाद बनाता है। इसी भावको हमारे दार्शनिकने समझानेकी कोशिश की है।

प्रश्न है—आग (=कारण, हेतु) क्या करती है लकड़ीका विनाश या कोयलेकी उत्पत्ति ? आप कहते है, लकड़ीका विनाश करती है। फिर सवाल होता है विनाश लकड़ीसे भिन्न वस्तु है या अभिन्न ? अभिन्न माननेपर

---

[1] वहीं २।७२

आग जिस विनाशको उत्पन्न करती है, वह काष्ठ ही हुआ, फिर तो "विनाश" होनेका मतलब काष्ठका होना हुआ, अर्थात् काष्ठका विनाश नहीं हुआ, फिर काष्ठके अविनाशसे काष्ठका दर्शन होना चाहिए। "यदि (कहो) वही (आगसे उत्पन्न वस्तु काष्ठका) विनाश है, (इसलिए काष्ठका दर्शन नहीं होता; तो फिर प्रश्न होगा—)"कैसे (विनाशरूपी) एक पदार्थ (काष्ठ रूपी) दूसरे (पदार्थ)का विनाश होगा ? (और यदि नाश एक भाव पदार्थ है, तो) काष्ठ क्यों नहीं दिखाई देता ?"[1]

(b) **विनाश एक भिन्न ही भावरूपी वस्तु है यह माननेसे भी काम नहीं चलता**—यदि कहो, विनाश (सिर्फ काष्ठका अभाव नहीं बल्कि)एक दूसरा ही भावरूपी पदार्थ है; और "उस (भाव रूपी विनाश नामवाले दूसरे पदार्थ)के द्वारा ढँका होनेसे (काष्ठ हमें नहीं दिखलाई देता); (तो यह भी ठीक नहीं) उस (एक दूसरे भाव=नाश)में (काष्ठका) आवरण (=आच्छादन) नहीं हो सकता, क्योंकि (ऐसा माननेपर नाशको वस्तुका आवरण मानना पड़ेगा, फिर तो वह) विनाश ही नहीं रह जायेगा (=विनष्ट हो जायगा)"[2] और इस प्रकार आग काष्ठके विनाशको उत्पन्न करती है, कर्मके अभावमें यह कहना भी गलत है।

और यदि आग द्वारा नाशकी उत्पत्ति मानें, तो "उत्पन्न होनेके कारण" उसे नाशमान मानना पड़ेगा, क्योंकि जितने उत्पत्तिमान् भाव (=पदार्थ) हैं, सभी नाशमान होते हैं। "और फिर (नाशमान होनेसे जब नष्ट हो जाता है)तो (आवरण-मुक्त होनेसे) काष्ठका दर्शन होना चाहिए।

यदि कहो—नाश रूपी भाव पदार्थ काष्ठका हन्ता है। रामने श्यामको मार डाला (=नष्ट कर दिया), फिर न्यायाधीश रामको फाँसी चढ़ा देता है; किंतु रामके फाँसी चढ़ा देने—"हन्ताके नाश हो जाने—पर जैसे मृत (=नष्ट श्याम)का फिरसे अस्तित्वमें आना नहीं होता, उसी तरह यहाँ

[1] प्र० वा० १।२७३ [2] वहीं १।२७४

भी।"[1] (नश्वर स्वभाववाले नाश पदार्थके नष्ट हो जानेपर भी काष्ठ फिरसे अग्नित्वमें नहीं आता)।

किन्तु, यह दृष्टान्त गलत है? राम श्यामके नाशमें "हन्ता (=राम) =(श्यामका) मरण नहीं है,"[2] बल्कि श्यामका मरण है अपने प्राण, इन्द्रिय आदिका नाश होना। यदि श्यामके प्राण-इन्द्रिय आदिका नाश होना हटा दिया जावे, तो श्याम जरूर अग्नित्वमें आ जायगा। किन्तु यहाँ आप 'नाश पदार्थ=काष्ठका मरण' मानते हैं, इसलिए नाश पदार्थके नष्ट हो जानेपर काष्ठका फिरसे अग्नित्वमें आना चाहिए।

(c) **'नाश=एक अभिन्न भावरूपी 'वस्तु' यह माननेसे भी काम नहीं चलेगा**—"यदि (मानो कि) विनाश (भावरूपी वस्तु काष्ठसे) अभिन्न है, तो 'नाश=काष्ठ' है। तो (काष्ठ)=(नाश=) अ-सत्, अतएव (नाशक आग) उसका हेतु नहीं हो सकती।"

"नाशको (काष्ठसे) भिन्न या अभिन्न दो छोड और नहीं माना जा सकता," और हमने ऊपर देख लिया कि दोनों ही अवस्थाओंमें नाशके लिए हेतु (=कारण)की जरूरत नहीं, अतएव नाश अहेतुक होता है।

यदि कहो—"नाशके अहेतुक माननेपर (वह) नित्य होगा, फिर (काष्ठका) भाव और नाश दोनों एक साथ रहनेवाले मानने पड़ेंगे।" तो यह शंका ही गलत बुनियाद पर है, क्योंकि (नाश तो) असत् है (=अभाव) है, उसकी नित्यता कैसे होगी,"[3] नित्य-अनित्य होनेका सवाल भाव पदार्थके लिए होता है, गदहेकी सींग—अ-सत् पदार्थ—के लिए नहीं।

(७) **कारण-समूहवाद**—कार्य एकसे नहीं बल्कि अनेक कारणोंके इकट्ठा होने—कारण-सामग्री—से उत्पन्न होता है, अर्थात् अनेक कारण मिलकर एक कार्यको उत्पन्न करते हैं। इस सिद्धान्त द्वारा बौद्ध दार्शनिक जहाँ जगत्में प्रयोगतः सिद्ध वस्तुस्थितिकी व्याख्या करते हैं, वहाँ किसी एक

[1] प्र० वा० १।२७४, २७५ [2] प्र० वा० १।२७५-२७७

ईश्वरके कर्त्तापनका भी खंडन करते हैं। साथ ही यह भी बतलाते हैं कि स्थिरवाद—चाहे वह परमाणुओंका हो या ईश्वरका—कारणोंकी **सामग्री** (=इकट्ठा होनेको) अस्तित्वमें नहीं ला सकता; यह क्षणिकवाद ही है, जो कि भावोंकी क्षणिकता—देश और कालमें गति—की वजहसे कारणोंकी सामग्री (=इकट्ठा होना) करा सकता है।

"कोई भी एक (वस्तु) एक (कारण)से नहीं उत्पन्न होती, बल्कि सामग्री (=बहुतसे कारणोंके इकट्ठा होने)से (एक या अनेक) सभी कार्योंकी उत्पत्ति होती है।"[1]

"कार्योंके स्वभावों (=स्वरूपों)में जो भेद है, वह आकस्मिक नहीं, बल्कि कारणों (=कारण-सामग्री)से उत्पन्न होता है। उनके बिना (=कारणोंके बिना, किसी दूसरेसे) उत्पन्न होना (मानें तो कार्यके) रूप (=कोयले)को उस (आग)से उत्पन्न कैसे कहा जायगा?"[2]

"(चूँकि) सामग्री (=कारण-समुदाय)की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, (अतः) उन्हींकी वजहसे वस्तुओं (=कार्यों)में भिन्न-रूपता दिखलाई पड़ती है। यदि वह (अनेक कारणोंकी सामग्री) भेद करनेवाली न होती, तो यह जगत् (विश्व-रूप नहीं) एक-रूप होता।"[3]

मिट्टी, चक्का, कुम्हार अलग-अलग (किसी घड़े जैसे भिन्न रूपवाले) कार्यके करनेमें असमर्थ हैं; किन्तु उनके (एकत्र) होनेपर कार्य होता है; इससे मालूम होता है, कि संहत (=एकत्रित) हुई उन (=क्षणिक वस्तुओं)में हेतुपन (=कारणपन) है, ईश्वर आदिमें नहीं, क्योंकि (ईश्वर आदिमें क्षणिकता न होनेसे) अभेद (=एक-रसता) है।"[4]

(८) प्रमाणपर विचार—मानवका ज्ञान जितना ही बढ़ता गया, उतना ही उसने उसके महत्त्वको समझा, और अपने जीवनके हर क्षेत्रमें मस्तिष्कको अधिक इस्तेमाल किया। यही ज्ञानकी महिमा आगे प्रयोगसिद्ध

[1] प्र० वा० ३।५३६ [2] वहीं ४।२४८ [3] वहीं ४।२४६
[4] वहीं २।२८

नही कल्पना-सिद्ध रूपमें धर्म तथा धर्म-सहायक दर्शनमें परिणत हुई, यह हम उपनिषद्कालमें देख चुके है ? उपनिषद्के दार्शनिकोंका जितना जोर ज्ञानपर था, बुद्धका उससे भी कहीं अधिक उसपर जोर था, क्योंकि अविद्याको वह सारी बुराइयोंकी जड़ मानते थे और उसके दूर करनेके लिए आर्य-सत्य या निर्दोष ज्ञानको बहुत जरूरी समझते थे। पिछली शताब्दियोंमें जब भारतीयोंको अरस्तूके तर्कशास्त्रके सपर्कमें आनेका मौका मिला, तो ज्ञान और उसकी प्राप्तिके साधनोंकी ओर उनका ध्यान अधिक गया, यह हम नागार्जुन, कणाद, अक्षपाद आदिके वर्णनमें देख आए हैं। वसुबंधु, दिग्नाग, धर्मकीर्तिने इसी ज्ञानको अपना मुख्य विषय बनाकर अपने प्रमाण-शास्त्रकी रचना की। दिग्नागने अपने प्रधान ग्रंथका नाम "प्रमाणसमुच्चय" क्यों रखा, धर्मकीर्तिने भी उसी तरह अपने श्रेष्ठ ग्रंथका नाम प्रमाणवार्त्तिक क्यों घोषित किया, इसे हम उपरोक्त बातोंपर ध्यान रखते हुए अच्छी तरह समझ सकते है।

प्रमाण—प्रमाण क्या है ? धर्मकीर्तिने उत्तर दिया[1]—"(दूसरे जरिएसे) अज्ञात अर्थके प्रकाशक, अ-विसवादी (=वस्तु-स्थितिके विरुद्ध न जानेवाले) ज्ञानको कहते है।" अ-विसवाद क्या है ?—"(ज्ञानका कल्पनाके ऊपर नहीं) अर्थ-क्रियाके ऊपर स्थित होना।" इसीलिए किसी ज्ञानकी "प्रमाणता व्यवहार (=प्रयोग, अर्थक्रिया) में होती है।"[2]

(प्रमाण-संख्या)—हम देख चुके है अन्य भारतीय दार्शनिक शब्द, उपमान, अर्थापत्ति आदि कितने ही और प्रमाणोंको भी मानते है। धर्मकीर्ति अर्थक्रिया या प्रयोगको परमार्थ सत्की कसौटी मानते थे, इसलिए वह ऐसे ही प्रमाणोंको मान सकते थे, जो कि अर्थ-क्रियापर आधारित हों।

"(पदार्थ—अलग-अलग लेनेपर स्व-लक्षण—शब्द आदिके प्रयोगके बिना केवल अपने रूपमें—मिलते हैं, अथवा कइयोंके बीचके सादृश्यको

---

[1] प्र० वा० २।१ [2] वहीं २।४

लेनेपर सामान्य लक्षण—अनेकोंमें उनके आकारकी समानता—में मिलते हैं; इस प्रकार) विषयके (सिर्फ) दो ही प्रकार होनेसे प्रमाण भी दो प्रकार-का ही होता है। (इनमें पहिला प्रत्यक्ष है और दूसरा अनुमान। प्रत्यक्षका आधार वस्तुका स्वलक्षण—अपना निजी स्वरूप—है, और यह स्वलक्षण) अर्थक्रियामें समर्थ होता है; (अनुमानका आधार सामान्य-लक्षण—अनेक वस्तुओंमें समानरूपता—है, और यह सामान्य लक्षण अर्थक्रियामें) असमर्थ होता है।"[1]

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण—ज्ञानके साधन दो ही हैं, प्रत्यक्ष या अनुमान। प्रत्यक्ष क्या है?—"(इन्द्रिय, मन और विषयके संयोग होनेपर) कल्पनासे बिलकुल रहित (जो ज्ञान होता है) तथा जो (किसी दूसरे साधन द्वारा अज्ञात अर्थका प्रकाशक है वह प्रत्यक्ष है, और वह (कल्पना नहीं) सिर्फ प्रति-अक्षसे ही सिद्ध होता है।" इस तरह प्रत्यक्ष वह अ-विसंवादी (=अर्थ-क्रियाका अनुसरण करनेवाला) अज्ञात अर्थका प्रकाशक ज्ञान है, जो कि विषयके संपर्कसे उस पहिले क्षणमें होता है, जब कि कल्पनाने वहाँ दखल नहीं दिया। धर्मकीर्त्तिने दिग्नागकी तरह प्रत्यक्षके चार भेद माने हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष असंगके लोक-प्रत्यक्षका पता नहीं।

(a) इंद्रिय-प्रत्यक्ष—"चारों ओरसे ध्यान (=चिन्तन)को हटाकर (कल्पनासे मुक्त होनेके कारण) निश्चल (=स्तिमित) चित्तके साथ स्थित (पुरुष) रूपको देखता है, यही इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है।"[2] इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो जानेके "पीछे (जब वह) कुछ कल्पना करता है, और वह जानता है—मेरे (मनमें) ऐसी कल्पना (=यह खास आकार प्रकारका होनेसे घड़ा है) हुई थी; किन्तु (यह बात) पूर्वोक्त इन्द्रियसे (उत्पन्न) ज्ञानके वक्त नहीं होती।"[3] "इसीलिए सारे (चक्षु आदि वाले) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (व्यक्ति-)विशेष (मात्र)के बारेमें होते हैं; विशेष (वस्तुओंका स्वरूप

[1] प्र० वा० ३।१ [2] वहीं ३।१२४ [3] वहीं ३।१२४

सामान्यसे मुक्त सिर्फ स्वलक्षण मात्र है, इसलिए उन)मे शब्दोंका प्रयोग नहीं हो सकता।"[1] "इस (=घट वस्तु)का यह (वाचक, घट शब्द) है इस तरह (वाच्य-वाचकका जो) संबंध (है, उस)में जो दो पदार्थ प्रतिभासित हो रहे हैं, उन्हीं (वाच्य-वाचक पदार्थों)का (वह) संबंध है, (और जिस वक्त उस वाच्य-वाचक संबंधपर और मन कल्पना दौड़ाता है) उस वक्त (वस्तु) इन्द्रियके सामनेसे हट गई रहती है (और मन अपने संस्कारके भीतर अवस्थित नाम और पदार्थ दो कल्पना-चित्रोंको मिलाकर नाम देनेकी कोशिशमें रहता है)।

"(शंकर स्वामी जैसे कुछ बाह्य प्रमाणशास्त्री, प्रत्यक्ष-ज्ञानको) इन्द्रिय-ज....होनेसे (शब्दके ज्ञानसे वंचित) छोटे बच्चेके ज्ञानकी भाँति कल्पना-रहित (ज्ञान) बतलाते हैं, और बच्चेके (ज्ञानका इस तरह) कल्पना-रहित होनेमें (वाच्य-वाचक रूपमें शब्द-अर्थ संबंधके) संकेतको कारण कहते हैं। क्योंकि (मनमें) कल्पनाके (न था) अभावके कारण बच्चोंका (सारा ज्ञान) सिर्फ प्रत्यक्ष ही होगा, और (बच्चोंको) संकेत (जानने)के लिए कोई उपाय न होनेसे पीछे (बड़े होनेपर) भी वह (=संकेत-ज्ञान) नहीं हो सकेगा।"[3]

(b) **मानस-प्रत्यक्ष**—दिग्नागने **प्रमाणसमुच्चयमें** मानस-प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हुए कहा[4]—"पदार्थके प्रति राग आदिका जो (ज्ञान) है, वही (कल्पनारहित ज्ञान) मानस(-प्रत्यक्ष) है।" मानस प्रत्यक्ष स्वतंत्र प्रत्यक्ष नहीं रहेगा, यदि "पहिलेके इन्द्रिय द्वारा ज्ञात (अर्थ)को ही ग्रहण करे, क्योंकि ऐसी दशामें (पहिलेसे ज्ञात अर्थका प्रकाशक होनेसे अज्ञात-अर्थ-प्रकाशक नहीं अतएव वह) प्रमाण नहीं होगा। यदि (इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा) अ-दृष्टको (मानस-प्रत्यक्ष) माना जाये, तो अंधे आदिको भी

[1] प्र० वा० ३।१२५, १२७
[2] वहीं ३।१२६
[3] वहीं ३।१४१-१४२
[4] "मानसं चार्थरागादि।"

(रूप आदि) अर्थोंका दर्शन (होता है यह) मानना होगा।"[1] इस सबका ख्याल कर धर्मकीर्त्ति **मानस-प्रत्यक्ष**की व्याख्या करते हैं—

"(चक्षु आदि) इन्द्रियसे जो (विषयका) विज्ञान हुआ है, उसीको अनन्तर-प्रत्यय (=तुरन्त पहिले गुजरा कारण) बना, जो मन (=चेतना) उत्पन्न हुआ है, वही (मानस-प्रत्यक्ष है)। चूँकि (चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ज्ञात रूप आदि ज्ञानमें) भिन्नको (मन प्रत्यक्षमें) ग्रहण करता है (इसलिए वह ज्ञात अर्थका प्रकाशन नहीं, साथ ही मन द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाले रूप आदिके विज्ञान इन्द्रियसे ज्ञात उन रूप आदिकोंसे संबद्ध है, जिन्हें कि अंधे आदि नहीं देख सकते, इसलिए) आँखके अंधोंकी (रूप....) देखनेकी बात नहीं आती।"[2]

(c) **स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष**—दिग्नागने इसका लक्षण करते हुए कहा—"(चक्षु-इन्द्रियसे गृहीत रूपका ज्ञान मनमें गृहीत रूप-विज्ञानका ज्ञान होनेके बाद रूप आदि) अर्थके प्रति अपने भीतर जो राग (द्वेष) आदिका संवेदन (=अनुभव) होता है, (वही) कल्पना-रहित (ज्ञान) स्वसंवेदन (-प्रत्यक्ष) है।"[3] इसके अर्थको अपने वार्त्तिकसे स्पष्ट करते हुए धर्मकीर्त्तिने कहा—

"राग (सुख) आदिके जिस स्वरूपको (हम अनुभव करते हैं वह) किसी दूसरे (इन्द्रिय आदिसे) संबंध नहीं रखता, अतः उसके स्वरूपके प्रति (वाच्य-वाचक) संकेतका प्रयोग नहीं हो सकता (और इसीलिए) उसका जो अपने भीतर संवेदन होता है, वह (वाचक शब्दसे) प्रकट होने लायक नहीं है।"[4] इस तरह अज्ञात अर्थका प्रकाशक, कल्पनारहित तथा अविसंवादी होनेसे राग-सुख आदिका जो अनुभव हम करते हैं, वह स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय-और मानस-प्रत्यक्षसे भिन्न एक प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-

[1] प्र० वा० ३।२३९ [2] वहीं ३।२४३

[3] "अर्थरागादि स्वसंवित्तिरकल्पिका"—प्रमाण-समुच्चय।

[4] प्र० वा० ३।२४९

में हम किसी इन्द्रियके एक विषय (=रूप, गंध)का ज्ञान प्राप्त करते है; मानस प्रत्यक्ष हमें उससे आगे बढ़कर इन्द्रियसे जो यह ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका अनुभव कराता है, और इस प्रकार अब भी उसका संबंध विषयसे जुड़ा हुआ है। किन्तु, स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें हम इन्द्रियके (रूप-)ज्ञान और उस इन्द्रिय-ज्ञानके ज्ञानसे आगे तथा बिल्कुल भिन्न राग-द्वेष, या सुख-दुख. . . .का प्रत्यक्ष करते हैं।

(d) **योगि-प्रत्यक्ष**[1]—उपरोक्त तीन प्रकारके प्रत्यक्षोंके अतिरिक्त बौद्धोंने एक चौथा प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष माना है। अज्ञान-प्रकाशक अविसंवादी—प्रत्यक्षोंके ये विशेषण यहाँ भी लिए गए हैं साथ ही कहा है—"उन (योगियों)का ज्ञान **भावना**से उत्पन्न कल्पनाके जालसे रहित स्पष्ट ही भासित होता है। (स्पष्ट इसलिए कहा कि) काम शोक, भय, उन्माद, चोर, स्वप्न आदिके कारण भ्रमसे पड़े (व्यक्ति) अ-भूत (=अ-सत्) पदार्थोंको भी सामने अवस्थितकी भांति देखते हैं, लेकिन वह स्पष्ट नहीं होते)। जिस (ज्ञान)में विकल्प (=कल्पना) मिला रहता है, वह स्पष्ट पदार्थके रूपमें भासित नहीं होता। स्वप्नमें (देखा पदार्थ)भी स्मृतिमें आता है; किन्तु वह (जागनेकी अवस्थामें) वैसे (=विकल्परहित) पदार्थके साथ नहीं स्मरणमें आता।"[2]

समाधि (=चित्तकी एकाग्रता) आदि भावनासे प्राप्त जितने ज्ञान है, सभी योगि-प्रत्यक्ष-प्रमाणमें नहीं आते; बल्कि "उनमें वही भावनासे उत्पन्न (ज्ञान) प्रत्यक्ष-प्रमाणमें अभिप्रेत है, जो कि पहिले (अज्ञान-प्रकाशक आदि) की भांति संवादी (=अर्थक्रियाको अनुसरण करनेवाला) हो; बाकी (दूसरे, **भावना**से उत्पन्न ज्ञान) भ्रम है।"[3]

प्रत्यक्ष ज्ञान होनेके लिए उसे कल्पना-रहित होना चाहिए, इसपर जोर दिया गया है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक कल्पनासे रहित होना आसानीसे समझा जा सकता है; क्योंकि वहाँ हम देखते हैं कि सामने घड़ा देखनेपर नेत्रपर पड़े

[1] Intuition. [2] प्र० वा० ३।२८१-२८३ [3] प्र० वा० ३।२८६

घड़ेके प्रतिबिंबका जो पहिला दबाव ज्ञानतंतुओं द्वारा हमारे मस्तिष्कपर पड़ता है, वह कल्पना-रहित होता है। पहिले दबावके बाद एक छाप (=प्रतिबिंब) मस्तिष्कपर पड़ता है, फिर मस्तिष्कमें संस्काररूपमें पहिलेके देखे घड़ोंके जो प्रतिबिंब (या प्रतिबिंब-संतान) मौजूद हैं, उनसे इस नए प्रतिबिंब (या लगातार पड़ रहे प्रतिबिंब-संतान)को मिलाया जाता है—अब यहाँ कल्पनाका आरम्भ हो गया। फिर जिस प्रतिबिंबसे यह नया प्रतिबिंब मिल जाता है, उसके वाचक नामका स्मरण होता है, फिर इस नए प्रतिबिंबवाले पदार्थका नामकरण किया जाता है। यहाँ कहाँ तक कल्पनारहित ज्ञान रहा, और कहाँसे कल्पना शुरू हुई, यह समझना उस प्रथम दबावके द्वारा आसान है; किंतु जहाँ बाहरी वस्तुके दबावकी बात नहीं रहती, वहाँ कल्पनाके आरंभकी सीमा निर्धारित करना—खासकर योगिप्रत्यक्ष जैसे ज्ञानमें—बहुत कठिन है। इसीलिए **कल्पना**की व्याख्या करते हुए धर्मकीर्त्तिने लिखा—

"जिस (विषय, वस्तु)में जो (ज्ञान, दूसरेसे पृथक् करनेवाले) शब्द-अर्थ (के संबंध)को ग्रहण करनेवाला है, वह ज्ञान उस (विषय)में कल्पना है। (वस्तुका) अपना रूप शब्दार्थ (=शब्दका विषय) नहीं होता, इसलिए वहाँका सारा (ज्ञान) प्रत्यक्ष है।"[1]

इस तरह चाहे ज्ञानका विषय बाहरी वस्तु हो अथवा भीतरी **विज्ञान**; जब तक समानता असमानताको लेकर प्रयुक्त होनेवाले शब्दार्थ-को अवकाश नहीं मिल रहा है, तब तक वह प्रत्यक्षकी सीमाके भीतर रहता है।

(प्रत्यक्षाभास)—चार प्रकारके प्रत्यक्षज्ञानको बतला चुके। किन्तु ज्ञान ऐसे भी हैं, जो प्रत्यक्ष-प्रमाण नहीं है, और देखनेमें प्रत्यक्षसे लगते हैं; ऐसे प्रत्यक्षाभासोंका भी परिचय होना जरूरी है, जिसमें कि हम गलत रास्ते पर न चले जायँ। दिग्नागने ऐसे प्रत्यक्षाभासोंकी संख्या चार बतलाई

---

[1] प्र० वा० ३।२८७

है[1]—"भ्रान्तिज्ञान, संवृतिसत्-ज्ञान, अनुमानानुमानिक-स्मार्ताभिलापिक और तैमिरि ज्ञान।" (१) भ्रान्तिज्ञान मरुभूमिकी बालुकामें जलका ज्ञान है। (२) संवृतिवाला ज्ञान फर्ज़ी द्रव्यके गुण आदिका ज्ञान—"यह अमुक द्रव्य है, अमुक गुण है।" (३) अनुमान (=लिंग, धूम) आनुमानिक (=लिंगी आग)के संकेतवाली स्मृतिके अभिलाप (=वचनके विषय) वाला ज्ञान—"यह घड़ा है।" (४) तैमिरि ज्ञान वह ज्ञान है जो कि इन्द्रियमें किसी तरहके विकारके कारण होता है, जैसे कामला रोगवालेको सभी चीजें पीली मालूम होती हैं। इनमें पहिले "तीन प्रकारके प्रत्यक्षाभास कल्पना-युक्त ज्ञान हैं, (जो कल्पनायुक्त होनेके कारण ही प्रत्यक्षके भीतर नहीं गिने जा सकते), और एक (=तैमिरि) कल्पना-रहित है किंतु आश्रय (=इंद्रिय)में (विकार होनेके कारण उत्पन्न होता है (इस लिए प्रत्यक्ष ज्ञानमें नहीं आ सकता—ये चार प्रकारके प्रत्यक्षाभास।"[2]

(ख) अनुमान-प्रमाण—अग्निका ज्ञान दो प्रकारसे हो सकता है, एक अपने स्वरूपसे, जैसा कि **प्रत्यक्ष**में देखा जाता है; दूसरा, दूसरेके रूपसे, जैसे धुआँ देखनेसे एक दूसरा (=परोक्षवर्ती) आगका रूप याद आता है, और इस प्रकार दूसरेके रूपसे उस धूमके लिंग (=चिह्न) वाली आगका ज्ञान होता है—यह अनुमान है। चूँकि पदार्थका "स्वरूप और पर-रूप दो ही तरहसे ज्ञान होता है, अतः प्रमाणके विषय (भेद) दो ही प्रकारके होते हैं"[3]—एक प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय और दूसरा अनुमानका विषय।

किन्तु "(जो पररूपसे अनुमान ज्ञान होता) है, वह जैसी (वस्तुस्थिति) है, उसके अनुसार नहीं लिया जाता, इसलिए (यह) दूसरे तरहका (ज्ञान) भ्रान्ति है। (फिर प्रश्न होता है) यदि (वस्तुका अपने-नहीं) पर-रूपसे

[1] "भ्रान्तिसंवृत्तिसज्ज्ञानं अनुमानानुमानिकम्। स्मार्ताभिलापिकं चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम्।"—प्रमाण-समुच्चय।

[2] प्र० वा० ३।२८८ [3] प्र० वा० ३।५४

ज्ञान होता है, तो (वह भ्रान्ति है) और भ्रान्तिको प्रमाण नहीं कह सकते (क्योंकि वह अविसंवादी नहीं होगी)। (उत्तर है—) भ्रान्तिको भी प्रमाण माना जा सकता है, यदि (उस ज्ञानका) अभिप्राय (जिस अर्थसे है, उस अर्थ)से अ-विसंवाद न हो (=उसके विरुद्ध न जाये; क्योंकि) दूसरे रूपसे पाया ज्ञान भी (अभिप्रेत अर्थका संवादी) देखा जाता है।"[1] यही पहाड़में देखे धुएँवाली आगके ज्ञानको हम अपने रूपसे नहीं पा, रसोईघर वाली आगके रूपके द्वारा पाते है, परन्तु हमारे इस अनुमान ज्ञानसे जो अभिप्रेत अर्थ (पहाड़की आग) है, उसमें उसका विरोध नहीं है।

(a) **अनुमानकी आवश्यकता**—"वस्तुका जो अपना स्वरूप (=स्वलक्षण) है, उसमें कल्पना-रहित प्रत्यक्ष प्रमाणकी जरूरत होती है (यह बतला चुके हैं); किन्तु (अनेक वस्तुओंके भीतर जो) **सामान्य** है, उसे कल्पनाके बिना नहीं ग्रहण किया जा सकता, इसलिए इस (सामान्यके ज्ञान)मे अनुमानकी जरूरत पड़ती है।"[2]

(b) **अनुमानका लक्षण**—किसी "संबंधी (पदार्थ, धूमसे संबंध रखनेवाली आग)के **धर्म** (=लिंग, धूम)से धर्मी (=धर्मवाली, आग)के विषयमें (जो परोक्ष) ज्ञान होता है, वह अनुमान है।"[3]

पहाड़में हम दूरसे धुआँ देखते है, हमे रसोईघर या दूसरी जगह देखी आग याद आती है, और यह भी कि "जहाँ-जहाँ धुआ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है" फिर धुएँको हेतु बनाकर हम जान जाते है कि पर्वतमें आग है। यहाँ आग परोक्ष है, इसलिए उसका ज्ञान उसके अपने स्वरूपसे हमे नहीं होता, जैसा कि प्रत्यक्ष आगमे होता है; दूसरी बात है, कि हमे यह ज्ञान सद्यः नहीं होता, बल्कि उसमे स्मृति, शब्द-अर्थ-संबंध—अर्थात् कल्पना—का आश्रय

[1] वहीं ३।५५, ५६ [2] प्र० वा० ३।७५

[3] वहीं ३।६२ "अटूट संबंधवाले (दो) पदार्थों (मेंसे एक)का दर्शन उस (=संबंध)के जानकारके लिए अनुमान होता है" (अनन्तरीयकार्थ-दर्शनं तद्विदोऽनुमानम्"—वसुबन्धुकी वादविधि)।

लेना पड़ता है।

(प्रमाण दो ही)—प्रमाण द्वारा ज्ञेय (=प्रमेय) पदार्थ स्वरूप और पर-रूप (=कल्पना-रहित, कल्पना-युक्त) दो ही प्रकारसे जाने जाते हैं। इनमें पहिला प्रत्यक्ष रहते जाना जाता है, दूसरा परोक्ष (अ-प्रत्यक्ष) रहते। "प्रत्यक्ष और परोक्ष छोड़ और कोई (तीसरा) प्रमेय संभव नहीं है, इसलिए प्रमेयके (सिर्फ) दो होनेके कारण प्रमाण भी दो ही होते हैं। दो तरहके प्रमेयोंके देखनेसे (प्रमाणोंकी) संख्याको (बढ़ाकर) तीन या (घटाकर) एक करना भी गलत है।"[1]

(c) अनुमानके भेद—कणाद, प्रशस्तपादने अनुमानको एक ही माना था, इसलिए अपने पूर्ववर्ती "ऋषियों"के पदपर चलते हुए प्रशस्तपाद जैसे थोड़ेसे अपवादोंके साथ आज तक ब्राह्मण नैयायिक उसे एक ही मानते आ रहे हैं। अनुमानके स्वार्थ-अनुमान, परार्थ-अनुमान ये दो भेद पहिले पहिल आचार्य दिग्नागने किया।[2] दो प्रकारके अनुमानोंमें स्वार्थ-अनुमान वह अनुमान है, जिसमें तीन प्रकारके हेतुओं (=लिंगों, चिह्नों, धूम आदि) से किसी प्रमेयका ज्ञान अपने लिए (=स्वार्थ) किया जाता है।[3] परार्थानुमानमें उन्हीं तीन प्रकारके हेतुओं द्वारा दूसरेके लिए (=परार्थ) प्रमेयका ज्ञान कराया जाता है।

(d) हेतु (=लिंग) के धर्म—पदार्थ (=प्रमेय) के जिस धर्मको हम देख कर कल्पना द्वारा उसके अस्तित्वका अनुमान करते हैं, वह हेतु है। अथवा "पक्ष (=आग) का धर्म हेतु है जो कि पक्ष (=आग) के अंश (=धर्म, धूम) से व्याप्त है।"[4]

"हेतु सिर्फ तीन तरहके होते हैं"[5]—कार्य-हेतु, स्वभाव-हेतु, और अनुपलब्धि-हेतु। हम किसी पदार्थका अनुमान करते हैं उसके कार्यसे—"पहाड़में आग है धुआँ होनेसे"। यहाँ धुआँ आगका कार्य है, इस तरह

[1] प्र० वा० ३।६३, ६४
[2] धर्मोत्तर (न्यायबिन्दु, पृ० ४२)
[3] देखो, न्यायबिन्दु २।३
[4] प्र० वा० १।३
[5] वहीं

कार्यसे उसके कारण (=आग) का हम अनुमान करते हैं। इसलिए "धुआँ होनेसे" यह हेतु **कार्य-हेतु** है।

"यह सामनेकी वस्तु वृक्ष है, शीशम होनेसे", यहाँ "शीशम होनेसे" हेतु दिया गया है। वृक्ष सारे शीशमोंका स्वभाव (=स्व-रूप) है, सामनेकी वस्तुको यदि हम शीशम समझते हैं, तो उसे इस **स्वभाव-हेतुके** कारण वृक्ष भी मानना पड़ेगा।

"मेजपर गिलास नहीं है", "उपलब्धि-योग्य स्वरूपवाली होनेपर भी उसकी उपलब्धि न होनेसे" यह अनुपलब्धि हेतुका उदाहरण है। गिलास ऐसी वस्तु है, जो कि वहाँ होनेपर दिखाई देगा, उसके न दिखाई देने (उपलब्धि न होने)का मतलब है, कि वह मेजपर नहीं है। गिलासकी **अनुपलब्धि** यहाँ हेतु बनकर उसके न होनेको सिद्ध करती है।

अनुमानमें किसी बातको सिद्ध करनेके लिए कार्य-, स्वभाव-, अनुप-लब्धिके रूपमें तीन प्रकारके हेतु इसीलिए होते हैं, क्योंकि हेतुवाले इन धर्मोंके बिना धर्मी (=साध्य, आग) कभी नहीं होता—इस धर्मका धर्मीके साथ अ-विनाभाव संबंध है। हम जानते हैं "जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग जरूर रहती है," "जो जो शीशम है वह वृक्ष जरूर होता है," "आँखसे दिखाई पड़नेवाला गिलास होनेपर जरूर दिखाई देता है, न दिखाई देनेका मतलब है नहीं होना।"

(९) मन और शरीर (क) एक दूसरेपर आश्रित—मन और शरीर अलग हैं या एक ही है, इसपर भी धर्मकीर्तिने अपने विचार प्रकट किए हैं। बौद्ध-दर्शनके बारेमें लिखते हुए हम पहिले बतला चुके हैं, और आगे भी बतलायेंगे, कि बौद्ध आत्माको नहीं मानते, उसकी जगह वह चित्त, मन और **विज्ञानको** मानते हैं, जो तीनोंही पर्याय हैं। मन शरीर नहीं है, किन्तु साथ ही "मन कायाके आश्रित है।"[१] इन्द्रियाँ काया (=शरीर)में होती हैं, यह हम जानते हैं, और "यद्यपि इन्द्रियोंके बिना बुद्धि (=मन, ज्ञान)

---

[१] प्र० वा० २।४३

नहीं होता, साथ ही इन्द्रियाँ भी बुद्धिके बिना नहीं होती, इस तरह दोनों (=इन्द्रियाँ और बुद्धि) अन्योन्य=हेतुक (=एक दूसरेपर निर्भर हैं), और इससे (मन और काया)का अन्योन्य-हेतुक होना (सिद्ध है)"।

(ख) मन शरीर नहीं—मन और शरीरका इस तरह एक दूसरेपर आश्रित होना—दोनोंमें अविनाभाव संबंध होना—हमें इस परिणामपर पहुँचाता है, कि मन शरीरसे सर्वथा भिन्न तत्त्व नहीं है, वह शरीरका ही एक अंश है; अथवा मन और शरीर दोनों उन्हीं भौतिक तत्त्वोंके विकास हैं, अतः तत्त्वतः उनमें कोई भेद नहीं—भूतसे ही चैतन्य है, जो चैतन्य है वह भूत है। धर्मकीर्त्ति अन्य बौद्ध दार्शनिकोंकी भाँति भूत-चैतन्यवाद (भौतिकवाद या जड़वाद)का खंडन करते हुए कहते हैं—"प्राण= अपान (=श्वास-प्रश्वास), इन्द्रियाँ और बुद्धि (=मन)की उत्पत्ति अपनेसे समानता रखनेवाले (=सजातीय) पूर्वके कारणके बिना केवल शरीरसे ही नहीं होती। यदि इस तरहकी उत्पत्ति (=जन्मग्रहण) होती, तो (प्राण-अपान-इन्द्रिय-बुद्धिवाले शरीरमें उत्पन्न होनेका) नियम न रहता (और जिस किसी भूतसे जीवन=प्राण अपान-इन्द्रिय-बुद्धि वाला शरीर उत्पन्न होता)।"[1]

जीवनवाले बीजसे ही दूसरे जीवनकी उत्पत्ति होती है, यह भी इस बातकी दलील है, कि मन (=चेतना) केवल भूतोंकी उपज नहीं है। कहीं-कहीं जीवन-बीजके बिना भी जीवन उत्पन्न होता दिखाई देता है, जैसेकि वर्षामें क्षुद्रकीट; इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

"पृथिवी आदिका ऐसा कोई अंश नहीं है, जहाँ स्वेदज आदि जन्तु न पैदा होते हों, इससे मालूम होता है, सब (भूतसे उत्पन्न होती दिखाई देनेवाली वस्तुएँ) बीजात्मक है।"[2]

"यदि अपने सजातीय (जीवनमुक्त कारण)के बिना इन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति मानी जाय, तो जैसे एक (जगहके भूत जीवनके रूपमें) परिणत

[1] प्र० वा० २।३५ [2] वहीं २।३७

हो जाते हैं, उसी तरह सभी (भूत परिणत हो जाने चाहिए); क्योंकि (पहिले जीवन-शून्य होनेसे सभी) एकसे हैं, (लेकिन हर कंकड़ और डलेको सजीव आदमीके रूपमें परिणत होते नहीं देखा जाता)।"[1]

"बत्ती (तेल) आदिकी भाँति (कफ, पित्त आदि) दोषों द्वारा देह विगुण (=मृत) हो जाता है—यह कहना ठीक नहीं; ऐसा होता तो मरनेके बाद भी (कफ, पित्त आदि) दोषोंका शमन हो जाता है (फिर तो दोषोंके शमनसे विगुणता हट जानेके कारण मृतकको) फिर जी जाना चाहिए।

"यदि कहो (जलाकर) आगके निवृत्त (=शान्त) हो जानेपर भी काष्ठके विकार (=कोयले या राख)की निवृत्ति (पहिले काष्ठके रूपमें परिणति) नहीं होती, उसी तरह (मृत शरीरकी भी कफ आदिके शान्त होनेपर भी सजीव शरीरके रूपमें) परिणति नहीं होती—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि चिकित्साके प्रयोगसे (जब दोषोंको हटाया जाता है, तो शरीर प्रकृतिस्थ हो जाता है किन्तु यह शरीरके सजीव होते ही होते)।

"(दोषोंसे होनेवाले विकारोंकी निवृत्ति या अनिवृत्ति सभी जगह एक सी नहीं है) कोई वस्तु कहीं-कहीं न लौटने देनेवाले (=अनिवर्त्य) विकार की जनक (=उत्पादक) होती है, जैसे आग काष्ठके बारेमें (अनिवर्त्य विकारकी जनक) है; और कहीं उलटा (=निवर्त्य विकार-जनक) है, जैसे (वही आग) सुवर्णमें। पहिले (काष्ठकी आग)का थोड़ा भी विकार (=काला आदि पड़ जाना) अनिवर्त्य (=न लौटाया जानेवाला) है। (किन्तु दूसरे सोना-आगमें जो) लौटाया जा सकनेवाला (=प्रत्यानेय) विकार है, वह फिर (पूर्ववत् पिछले) ठोस सोनेकी तरह हो सकता है।

"(जो कुछ) असाध्य कहा जाता है, (वह रोगों और मृत्युके कारण कफ आदि दोषोंके) निवारक (औषधों)के दुर्लभ होनेसे अथवा आयुकी

---

[1] प्र० वा० २।३८

क्षयकी वजहसे (कहा जाता है)। यदि (भौतिकवादियोंके मतानुसार) केवल (भौतिक दोष ही मृत्युके कारण हों) तो (ऐसे दोषोंका हटाना) असाध्य नहीं हो सकता।

"(माना जाता है कि साँप काटनेपर जब तक जीवन रहता है तब तक विष सारे शरीरमें फैलता जाता है, किन्तु शरीरके निर्जीव हो जानेपर विष काटे स्थानपर जमा हो जाता है; इस तरह तो यदि भूत ही चेतना होती, तो (शरीरके) मर जानेपर विष आदिके (शरीरके अन्य स्थानोंसे हटकर एक स्थानपर) जमा होनेसे (शरीरके बाकी स्थानों) अथवा कटे (स्थान)के काट डालनेसे (बाकी शरीरमें निर्जीवताकारी) विकारके हेतु (=विष)के हट जानेसे वह (शरीर) क्यों नहीं साँस लेने लगता? (उससे पता लगता है कि चेतना भूत ही नहीं है, बल्कि उससे भिन्न वस्तु है, यद्यपि दोनों एक दूसरेके आश्रित होनेसे अलग-अलग नहीं रह सकते)।

"(भूतसे चेतनाकी उत्पत्ति माननेपर भूत उपादान और चेतना उपादेय हुई फिर) उपादान (=शरीर)के विकारके बिना उपादेय (=चेतना)में विकार नहीं किया जा सकता, जैसे कि मिट्टीमें विकार बिना (मिट्टीके बने) कसोरे आदिमें (विकार नहीं किया जा सकता)। किसी वस्तुके विकार-युक्त हुए बिना जो पदार्थ विकारवान् होता है, वह वस्तु उस (पदार्थ)का उपादान नहीं (हो सकती); जैसे कि (एकके विकारके बिना दूसरी विकार-युक्त होनेवाली) गाय और नीलगायमें (एक दूसरेका उपादान नहीं हो सकती); इसी तरह मन और शरीरकी भी (बात है, दोनोंमेंसे एकके विकार-युक्त हुए बिना भी दूसरेमें विकार देखा जाता है)।"[1]

(ग) मनका स्वरूप—"स्वभावसे मन प्रभास्वर (=निर्विकार)है, (उसमें पाए जानेवाले) मल आगन्तुक (आकाशमें अंधकार, कुहरा आदिकी भाँति अपनेसे भिन्न) हैं।"[2]

[1] प्र० वा० २।५४-६२ [2] वहीं २।२०८

४. दूसरे दार्शनिकोंका खंडन

धर्मकीर्त्तिने अपने ग्रंथ प्रमाण-वार्त्तिकमें अपने दार्शनिक सिद्धान्तोंका समर्थन और प्रतिपादन ही नहीं किया है, बल्कि उन्होंने अपने समय तककी हिन्दू दार्शनिक प्रगतिकी आलोचना भी की है। जिन दार्शनिकोंके ग्रंथोंको सामने रखकर उन्होंने यह आलोचना की है, उनमें उद्योतकर और कुमारिल जैसे प्रमुख ब्राह्मण दार्शनिक भी हैं। हमने पुनरुक्ति और ग्रंथ-विस्तारके डरसे उनके बारेमें अलग नहीं लिखा, किन्तु यहाँ धर्मकीर्त्तिकी आलोचनामें उनके विचारोंको हम जान सकते हैं।

(१) नित्यवादियोंका सामान्यरूपसे खंडन—पहिले हम उन सिद्धांतोंको ले रहे हैं, जिन्हें एकसे अधिक दार्शनिक सम्प्रदाय मानते हैं।

(क) नित्यवादका खंडन—अनित्यवाद (=क्षणिकवाद)का घोर पक्षपाती होनेसे बौद्धदर्शन नित्यवादका जबर्दस्त विरोधी है। भारतके बाकी सारे ही दार्शनिक किसी-न-किसी रूपमें नित्यवादको मानते हैं, जैन और मीमांसक जैसे आत्मवादी ही नहीं चार्वाक जैसे भौतिकवादी भी भूतके सूक्ष्मतम अवयवको क्षणिक (=अनित्य) कहनेके लिए तैयार नहीं थे, जैसे कि पिछली सदी तकके यूरोपके यान्त्रिक भौतिकवादी विश्वकी मूल ईंटों—परमाणुओं—को क्षणिक कहनेके लिए तैयार न थे।

दिग्नाग कहते हैं[1]—"कारण (स्वयं) विकारको प्राप्त होकर ही दूसरी (चीज)का कारण हो सकता है।" धर्मकीर्त्तिने कहा—"जिसके होनेके बाद जिस (वस्तु)का जन्म होता है, अथवा (जिसके) विकारयुक्त होनेपर (दूसरी वस्तु)में विकार होता है, उसे उस (पीछेवाली वस्तु)का कारण कहते हैं।"[2]

इस प्रकार कारण वही हो सकता है, जिसमें विकार हो सकता है। "नित्य (वस्तु) में यह (बात) नहीं हो सकती, अतः ईश्वर आदि (जो नित्य

[1] **"कारणं विकृतिं गच्छज्जायतेऽन्यस्य कारणम्"**

[2] **प्र० वा० २।१८१-८२**

पदार्थ) हैं, उनमें (कोई वस्तु) उत्पन्न नहीं हो सकती।"[1]

"जिसे अनित्य नहीं कहा जा सकता, वह किसी (चीज)का हेतु नहीं हो सकता। (नित्यवादी) विद्वान् उसी (स्वरूप)को नित्य कहते हैं जो स्वभाव (=स्वरूप) विनष्ट नहीं होता।"[2]

यह भी बतला चुके हैं कि धर्मकीर्त्ति परमार्थ-सत् उसी वस्तुको मानते हैं, जो कि अर्थवाली (=सार्थक) क्रिया (करने) में समर्थ हो। नित्यमें विकारका सर्वथा अभाव होनेसे क्रिया हो ही नहीं सकती। आत्मा, ईश्वर, इन्द्रिय आदिसे अगोचर है, साथ ही वह नित्य होनेके कारण निष्क्रिय भी हैं; इतनेपर भी उनके अस्तित्वकी घोषणा करना यह साहस मात्र है।

(ख) आत्मवादका खंडन—चार्वाक और बौद्ध-दर्शनको छोड़ बाकी सारे भारतीय दर्शन आत्माको एक नित्य चेतन पदार्थ मानते हैं। बौद्ध अनात्मवादी हैं, अर्थात् आत्माको नहीं मानते। आत्माको न माननेपर भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील चेतना-प्रवाह (=विज्ञान-संतति) एकसे दूसरे शरीरमें जुड़ता (=प्रतिसंधि ग्रहण करता) रहता है, इसे हम पहिले बतला चुके हैं। चेतना (=मन या विज्ञान) सदा कायाश्रित रहता है। जब कि एक शरीरका दूसरे शरीरसे एकदम सन्निकटका संबंध नहीं है, मरनेवाला **क** शरीर भलोकपर है और उसके बादका सजीव बननेवाला **ख** शरीर मंगललोकमें; ऐसी अवस्थामें **क** शरीरको छोड़ **ख** शरीर तक पहुँचनेमें बीचकी एक अवस्था होगी, जिसमें विज्ञानको कायासे बिलकुल स्वतंत्र मानना पड़ेगा, फिर "मन कायाश्रित है"—कहना गलत होगा। इसका उत्तर बौद्ध कह सकते हैं, कि हम मनको एक नहीं बल्कि प्रवाह मानते हैं, प्रवाहका अर्थ निरन्तर—अ-विच्छिन्न चली जाती एक वस्तु नहीं, बल्कि, हर क्षण अपने रूपमें विच्छिन्न—सर्वथा नष्ट—होती, तथा उसके बाद उसी तरहकी किन्तु बिलकुल नई चीजका उत्पन्न होना, और इस.....नष्ट-उत्पत्ति-नष्ट-उत्पत्ति.....में एक विच्छिन्न प्रवाहका

[1] वहीं २।१८३ [2] वहीं २।२०४

जारी रहना। चेतन-प्रवाह इसी तरहका विच्छिन्न प्रवाह है, वह जीवन-रेखा मालूम होता है, किन्तु है जीवन-विन्दुओंकी पाँती। फिर प्रवाहको विच्छिन्न मान लेनेपर "मन कायाश्रित"का मतलब मनके हर एक "विन्दु"को बिना कायाके नहीं रहना चाहिए। **क** शरीर—जो कि स्वयं क्षण-क्षण परिवर्तन-शील शरीर-निर्मापक मूल विन्दुओं (=कणों)का विच्छिन्न प्रवाह है—का अन्तिम चित्त-विन्दु नष्ट होना है, उसका उत्तराधिकारी **ख** शरीरके साथ होता है। **क** शरीर(-प्रवाह)के अन्तिम और **ख** शरीर(-प्रवाह)के आदिम चित्त-विन्दुओं (**क**-चित्त, **ख**-चित्त)के बीच यदि किसी **ग** चित्त-विन्दुको मानें तब न आक्षेप किया जा सकता है, कि **ग** चित्त-विन्दु कायाके बिना है। इस तरह स्थिर (=नित्य या चिरस्थायी) नहीं बल्कि बिजलीकी चमकसे भी बहुत तेज गतिमें "आँख मिचौनी" करनेवाले चित्त-प्रवाहके (अनात्म तत्त्व)को मानते हुए भी वह एकसे अधिक शरीरों (=शरीर-प्रवाहों)में उसका जाना सिद्ध करते हैं।

(a) **नित्य आत्मा नहीं**—आत्माको नित्य माननेवाले वैसा मानना सबसे जरूरी इस बातके लिए समझते है, कि उसके बिना बंध—जन्म-मरणमें पड़कर दुःख भोगना, और मोक्ष—दुःखोंसे छूटकर परम "सुखी" हो विचरण करना—दोनों संभव नहीं। इसपर धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

"दुःखकी उत्पत्तिमें कारण (=कर्म) **बंध** है, (किन्तु) जो नित्य है (वह निष्क्रिय है इसलिए) वह ऐसा (कारण) कैसे हो सकता है? दुःखकी उत्पत्ति न होनेमें कारण (कर्मसे उत्पन्न बंधसे) मोक्ष (मुक्त होना) है, जो नित्य है, वह ऐसा (कारण) कैसे हो सकता है? (वस्तुतः) जिसे अ-नित्य (=क्षणिक) नहीं कहा जा सकता, वह किसी (चीज)का कारण नहीं हो सकता।. . . .नित्य उस स्वरूपको कहते हैं, जो कि नष्ट नहीं होता। इस लज्जाजनक दृष्टि (=नित्यताके सिद्धान्त)को छोड़कर उसे (=आत्माको) (अतः) अनित्य कहो।"[1]

[1] प्र० वा० २।२०२-२०५

(b) **नित्य आत्माका विचार (=सत्काय दृष्टि) सारी बुराइयोंकी जड़**—"मैं सुखी होऊँ या दुःखी नहीं होऊँ—यह तृष्णा करते (पुरुष)को जो 'मैं' ऐसा ख्याल (=बुद्धि) होती है, वही सहज आत्मवाद (=सत्त्व-दर्शन) है। 'मैं' ऐसी धारणाके बिना कोई आत्मामें स्नेह नहीं कर सकता; और आत्मामें (इस तरहके) स्नेहके बिना सुखकी कामना करनेवाला बन (कोई गर्भस्थानकी ओर) दौड़ नहीं सकता है।"[1]

"जब तक आत्मा-संबंधी प्रेम नहीं छूटता, तब तक (पुरुष अपनेको) दुःखी मानता रहेगा और स्वस्थ (=चिन्ता-रहित) नहीं हो सकेगा। यद्यपि कोई (अपनेको) मुक्त करनेवाला नहीं है, तो भी ('मैं, मेरा, जैसे) झूठे ख्याल (=आरोप)को हटानेके लिए यत्न करना पड़ता है।"[2]

"यह (क्षणिक मन- शरीर-प्रवाहमें) भिन्न आत्माका ख्याल है, जिसमें उससे उलटे स्वभाव (=वस्तुकी स्थिरता आदि)में राग (=स्नेह) उत्पन्न होता है।"[3]

"आत्माका ख्याल (केवल) मोह, और वह सारी बुराइयोंकी जड़ (=दोषोंका मूल) है।"[4]

"(यह) मोह **सत्काय दृष्टि** (=नित्य आत्माकी धारणा) है; मोह-मूलक ही सारे मल (=चित्त-विकार) हैं।"[5]

धर्मके माननेवालोंके लिए भी आत्मवाद (=सत्काय-दृष्टि) बुरी चीज है, इसे बतलाते हुए कहा है—

"जो (नित्य) आत्माको मानता है, उसको "मैं" इस तरहका स्नेह (=राग) सदा बना रहता है, स्नेहसे सुखकी तृष्णा करता है, और तृष्णा दोषोंको ढाँक देती है। (दोषोंके ढँक जानेसे वहाँ वह गुणोंको देखता है, और) गुणदर्शी तृष्णा करते हुए 'मेरा (सुख)' ऐसी (चाह करने) उस (की प्राप्ति)के लिए साधनों (=पुनर्जन्म आदि)को ग्रहण करता है।

[1] प्र० वा० २।२०१-२   [2] वहीं २।१९१-९२
[3] प्र० वा० १।१९५   [4] वहीं २।१९६   [5] वहीं २।२१३

इस सत्काय-दृष्टिसे जब तक आत्माकी धारणा है, तब तक वह संसार (=भवसागर)में है। आत्मा (=मेरा) जब है, तभी पराए (=मन)-का ख्याल होता है। मेरा-परायाका भेद जब (पुरुषमें) आता है, तो लेना, छोड़ना (=राग, द्वेष) होता है, इन्हीं (लेने छोड़ने)से बँधे सारे दोष (=ईर्ष्या आदि) पैदा होते हैं। जो नियमसे आत्मामें स्नेह करता है, वह आत्मीय (=सुख साधनों)से रागरहित नहीं हो सकता।"[1]

"आत्माकी धारणा सर्वथा अपने (व्यक्तित्वमें) स्नेहको दृढ़ करती है। आत्मीयोंके प्रति स्नेहका बीज (जब मौजूद है, तो वह दोषोंको) वैसा ही कायम रखेगा।"[2]

"(वस्तुत: आत्मा नहीं नैरात्म्य ही है,) किन्तु नैरात्म्यमे जब (गलतीसे) आत्म-स्नेह हो गया, तो उसमें (=आत्मस्नेहसे कि जिसे वह आत्मीय सुख आदिकी चीज समझता है, उसमें) जितना भी लाभ हो, उसके अनुसार क्रिया-परायण होता है। (—बड़ा लाभ न होनेपर छोटे लाभको भी हासिल करनेसे बाज नहीं आता, जैसे) मत्तकासिनी (=मत्त-गजगामिनी सुन्दरी)के न मिलनेपर (कामुक पुरुष) पशुमें भी कामतृप्ति करता है।"[3]

इस प्रकार नित्य आत्मा युक्तिसे सिद्ध नहीं हो सकता है, और धर्म, परलोक, मुक्तिमें भी उसके माननेसे बाधा ही होती है।

(ग) ईश्वर-खंडन—ईश्वरवादी ईश्वरको नित्य और जगत्का कर्त्ता मानते हैं। धर्मकीर्त्ति ईश्वरके अस्तित्वका खंडन करते हुए कहते है—

"जैसे (स्वरूपसे) वह (ईश्वर जगत्की सृष्टिके वक्त) कारण वस्तु है, वैसे ही (स्वभावसे सृष्टि करनेसे पहिले) वह अ-कारण भी था। (आखिर स्वरूपसे एकरस होनेसे दोनों अवस्थामें उसमें भेद नहीं हो सकता, फिर) जब वह कारण (माना गया, उसी वक्त) किस (वजह)से (वैसा) माना गया (और) अ-कारण नहीं माना गया?

[1] प्र० वा० २।२१७-२२० [2] वह २।२३५, २३६ [3] वहीं २।२३३

"(कारक और अकारक दोनों अवस्थाओंमें एकरस रहनेवाला ईश्वर जब कारण कहा जाता है, तो प्रश्न होता है—) राम (के शरीर) में शस्त्रके लगनेसे घाव और औषधके लगनेसे घाव-भरना (देखा जाता है); शस्त्र और औषध क्षणिक होनेसे क्रिया कर सकते हैं, इसलिए उनके लिए यह सम्भव है; किन्तु यदि (नित्य अतएव निष्क्रिय ईश्वरको कारक मानते हो, तो क्रिया आदि) संबंध-रहित ठूँठमें ही क्यों न विश्वकी कारणता मान लेते ?

"(यदि कहो कि ईश्वरके सृष्टिके कारक होनेकी अवस्थासे अकारक अवस्थामें विशेषता होती है, तो प्रश्न आता—ऐसा होनेसे उसके स्वरूपमें परिवर्तन हो जायगा; क्योंकि) स्वरूपमें परिवर्तन हुए बिना (वह कारक नहीं हो सकता, और नित्य होनेसे) वह कोई व्यापार (=क्रिया) नहीं कर सकता। और (साथ ही) जो नित्य है, वह तो अलग नहीं (सदा वहाँ मौजूद) है, (फिर उसकी सृष्टि-रचना-संबंधी) सामर्थ्यके बारेमें यह समझना मुश्किल है (कि सदा अपनी उसी सामर्थ्यके रहते भी वह उसे एक समय ही प्रदर्शित कर सकता है, दूसरे समय नहीं)।

"जिन (कारणों)के होनेपर ही जो (कार्य) होता है, उन (कारणों) से अन्यको उस (कार्य)का कारण माननेपर (कारण ढूँढते वक्त ईश्वर तक ही जाकर थम जाना नहीं पड़ेगा, बल्कि) सर्वत्र कारणोंका खातमा ही नहीं होगा (ईश्वरके आगे भी और तथा उससे आगे और....कारण ढूँढने पड़ेंगे।)

"(कारण वही होता है, जिसके स्वरूपमें कार्यके उत्पादनके समय परिवर्तन होता है) भूमि आदि अंकुर पैदा करनेमें कारण अपने स्वरूप-परिवर्तन करते हुए होते हैं; क्योंकि उन (=भूमि आदि)के संस्कारसे अंकुरमें विशेषता देखते हैं। (ईश्वर अपने स्वरूपमें परिवर्तन किए बिना कारण नहीं बन सकता, और स्वरूप-परिवर्तन करनेपर वह नित्य नहीं रह सकता)।"[1]

[1] प्र० वा० २।२१-२५

ईश्वरवादी ईश्वर सिद्ध करनेके लिए इसे एक जबर्दस्त युक्ति समझते हैं—सन्निवेश (=खास आकार-प्रकार)की वस्तुको देखनेपर कर्त्ताका अनुमान होता है, जैसे सन्निवेशवाले घड़ेको देखकर उसके कर्त्ता कुम्हारका अनुमान होता है। इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

"किसी वस्तु (=घट)के बारेमें (पुरुषकी उपस्थितिमें सन्निवेशका होना यदि) प्रसिद्ध है, तो उसके एकसे शब्द (=सन्निवेश पुरुषपूर्वक होता है)की समानतामें (कुम्हारकी तरह ईश्वरका) अनुमान करना ठीक नहीं; जैसे कि (एक जगह कहीं) पीले रंगवाले धुएँको देखकर आपने आगका अनुमान किया, और फिर सभी जगह पीले रंगको देखकर आगका अनुमान करते चलें। यदि ऐसा न मानें तब तो चूँकि कुम्हारने मिट्टीके किसी घड़े आदिको बनाया, इसलिए दीमकोंके 'टीले'को कुम्हारकी ही कृति सिद्ध करना होगा।"[1]

पहिले **सामग्रीकारणवाद**के बारेमें कहते वक्त धर्मकीर्त्ति बतला चुके हैं, कि कोई एक वस्तु कार्यको नहीं उत्पादन करती, अनेक वस्तु मिलकर अर्थात् कारण-सामग्री कार्य करनेमें समर्थ होती है।

(२) न्याय-वैशेषिक खंडन—वैशेषिक और न्याय-दर्शनमें जगत्को बाहरसे परिवर्तनशील मानते हुए, यूनानी दार्शनिकों—खासकर अरस्तूके दर्शन—का अनुसरण करते हुए, बाहरी परिवर्तनके भीतर नित्य एक रस तत्वों—चेतन और जड़ मूल तत्वोंको सिद्ध करनेकी कोशिश की गई है। बौद्धदर्शन अपवादरहित क्षणिकताके अटल सर्वव्यापी नियमको स्वीकार करते हुए किसी स्थिरता-साधक सिद्धान्तको माननेके लिए तैयार नहीं था; इसीलिए हम प्रमाणवार्त्तिकमें धर्मकीर्त्तिको मुख्यतः ऐसे सिद्धान्तोंका जबर्दस्त खंडन करते देखते हैं। वैशेषिकने स्थिरवादी सिद्धान्तके अनुसार अपने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय—छै पदार्थोंको स्वीकृत किया है, इनमें कर्म और विशेष ही हैं जिनके माननेमें बौद्धोंको आनाकानी

[1] वहीं २।१२, १३

नहीं हो सकती थी; क्योंकि कर्म या क्रिया क्षणिकवादका ही साकार—परमार्थसत्—स्वरूप है और **हेतु-सामग्री** तथा **अपोह** (जिसके बारेमें आगे शब्दप्रमाणपर बहस करते वक्त लिखेंगे)के सिद्धान्तोंको माननेवाले होनेसे **विशेष**को भी वह स्वीकार कर लेते थे। बाकी द्रव्य, गुण, सामान्य, समवायको वह कल्पनापर निर्भर व्यवहारसत्के तौरपर ही मान सकते थे।

(क) द्रव्य, गुण आदिका खंडन—बौद्धोंकी परमार्थसत् और व्यवहारसत् की परिभाषाके बारेमें पहिले कहा जा चुका है, उसमें परमार्थ सत्की कसौटी उन्होंने—अर्थक्रिया—को रखा है। विश्वमें जो कुछ वस्तु सत् है, वह अर्थ-क्रियामें व्याप्त है, जो अर्थक्रियाकारी नहीं है, वह वस्तु सत् (=परमार्थसत्)नहीं हो सकती। विश्व और उसकी "वस्तुओं"के बारेमें ऐसा विचार रखते हुए वह वस्तुतः "वस्तु"को ही नहीं मान सकते थे; क्योंकि "वस्तु"से साधारण जनके मनमें स्थिर पदार्थका ख्याल आता है; इसीलिए बौद्ध दार्शनिकोंने वस्तुके स्थानमें "धर्म" या "भाव" शब्दका अधिक प्रयोग करना चाहा है। "धर्म"को मजहब या मजहबी स्थिर-सत्यके अर्थमें नहीं, बल्कि विच्छिन्न प्रवाहके उन विन्दुओंके अर्थमें लिया है, जो क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होते वस्तुके आकारमें हमें दिखलाई पड़ते हैं। "भाव" (=होना) को वह इसलिए पसन्द करते हैं, क्योंकि वस्तु-स्थिति हमें "है"का नहीं बल्कि "होने"का पता देती है—विश्व स्थिर तत्त्वोंका समूह नहीं है कि हम "है"का प्रयोग करें, बल्कि वह उन घटनाओंका समूह है जो प्रतिक्षण घटित हो रही है। वैशेषिककी द्रव्य, गुणकी कल्पना **भाव**के पीछे छिपे **विच्छिन्न-प्रवाह** वाले विचारके विरुद्ध है।

वैशेषिकका कहना है—द्रव्य और गुण दो चीजें (पदार्थ) हैं, जिनमें गुण वह है जो सदा किसीके आधारपर रहता है, गंधको हमेशा हम पृथिवी (तत्त्व)के आधारपर देखते हैं, रसको जल (तत्त्व)के आधारपर। उसी तरह जहाँ-जहाँ हम द्रव्य देखते हैं, वहाँ-वहाँ उसके आधेय—गुण—भी पाए जाते हैं, जहाँ-जहाँ पृथ्वी (तत्त्व) मिलता है, वहाँ-वहाँ उसका आधेय गुण गंध भी मिलता है। इस तरह गुणके लिए कोई आधार होना चाहिए, यह

ख्याल हमें द्रव्यकी सत्ता स्वीकार करनेके लिए मजबूर करता है; और द्रव्य सदा अपने आधेय गुणके साथ रहता है, यह ख्याल हमें गुणकी सत्ताको स्वीकार करनेके लिए मजबूर करता है। बौद्धोंका कहना है—प्रकृति इस द्रव्य गुणके भेदको नहीं जानती, यह तो हम समझनेकी आसानीके लिए अलग करके कहते हैं; जिस तरह प्रकृति दस आमोंमेंसे एकको पहिला, एकको दूसरा....इस तरह नंबर देकर हमारे सामने उपस्थित नहीं करती, हर एक आम एक दूसरेसे भिन्न हैं—बस वह इतना ही जानती है। "**भाव** प्रतिक्षण विनष्ट हो रहे हैं, **भावों**के प्रवाहकी उस तरह की (प्रतिक्षण विनाशसे युक्त) उत्पत्तिमें (सिद्ध होता है, कि यह उत्पत्ति सदा) स-हेतुक (=कारण या पूर्ववर्त्ती **भाव**के होनेपर) होती है, इससे आश्रय (=आधार है, सिर्फ इसी अर्थमें लेना चाहिए कि हर एक भावकी उत्पत्तिके पहिले भाव-प्रवाह मौजूद रहता) है, इससे भिन्न अर्थमें (आश्रय, आधार या द्रव्यका मानना) अ-युक्त है।"[1]

जैसे जलका आधार घड़ेको मानते हैं, उसी तरह गंधका आधार पृथिवी (-तत्त्व) है, यह कहना गलत है "जल आदिके लिए आधार (की जरूरत) हो सकती है, क्योंकि (गतिशील जलके) गमनका (घड़ेसे) प्रतिबंध होता है। गुण, **सामान्य** (=जाति) और कर्म (तो तुम्हारे मतमें गतिरहित हो द्रव्यके भीतर रहते हैं, फिर ऐसे) गतिहीनोंको आधार लेकर क्या करना है?"[2]

इस तरह आधारकी कल्पना गलत साबित होनेपर आधेय गुण आदिका पृथक पदार्थ होना भी गलत ख्याल है। गुण सदा द्रव्यमें रहता है, अर्थात् दोनोंके बीच **समवाय** (=नित्य) संबंध है, तथा द्रव्य गुणका समवायी (=नित्य संबंध रखनेवाला) कारण है, यह समवाय और समवायी-कारणका ख्याल भी पूर्व-खंडित द्रव्य-गुणकी कल्पनापर आधारित होनेसे गलत है।

[1] प्र० वा० २।६७ [2] प्र० वा० २।६८

(ख) सामान्यका खंडन—गायें करोड़ों हैं, जब हम उनकी भूत, वर्तमान, भविष्यकी व्यक्तियोंपर विचार करते है, तो वह अनगिनत मालूम होती हैं। इन अनगिनत गाय-व्यक्तियोंमें एक बात हम सदा पाते हैं, वह है गायपन (=गोत्व), जो गाय व्यक्तियोंके मरते रहनेपर भी हर नई उत्पन्न गायमें पाया जाता है। अनेक व्यक्तियोंमें एकसा पाया जानेवाला यह पदार्थ **सामान्य** या **जाति** है, जो नित्य—सर्वकालीन—है। यह है सामान्यको सिद्ध करनेमें वैशेषिककी युक्ति जिसके बारेमें पहिले लिख चुकनेपर भी प्रकरणके समझनेमें आसानीके लिए हमें यहाँ फिर कहना पड़ा है।

अनुमानके प्रकरणमें धर्मकीर्ति कह चुके हैं, कि **सामान्य** अनुमानका विषय है, साथ ही सामान्य वस्तु-सत नहीं बल्कि कल्पनापर निर्भर है। इस तरह जहाँ तक व्यवहारका संबंध है उसके माननेमें वह इन्कार नहीं करते इसीलिए वह कहते हैं—

"बाहरी अर्थ (=पदार्थ)की अपेक्षाके बिना जैसे (अर्थ, पदार्थमें) उसे वाचक मान वक्ता जिस शब्दका नियत करते हैं, वह शब्द वैसा (ही) वाचक होता है।

"(एक स्त्रीके लिए भी संस्कृतमें बहुवचन) दारा, (छ नगरोंके बहुवचनवाले अर्थके लिए संस्कृतमें एक वचन) षण्णगरी (छ नगरी) कहा जाता है, जैसे (शब्द-रूपों)में एक वचन और बहुवचनकी व्यवस्थाका क्या कारण है? अथवा (सामान्य अनेक व्यक्तियोंमें एक होता है, आकाश तो **ख** सिर्फ एक है फिर) **ख**का स्वभाव खपन (=आकाशपन) यह सामान्य क्यों माना जाता है?"[1]

इसका अर्थ यही है, शब्दोंके प्रयोगमें वस्तुकी पर्वाह नहीं करके वक्ता बहुत जगह स्वतंत्रता दिखलाते हैं, गायपन आदि इसी तरहकी उनकी "स्वतंत्र" कल्पना है, जिसके ऊपर वस्तुस्थितिका फैसला करना गलत होगा।

"(सर्वथा एक दूसरेसे) भिन्नता रखनेवाले भावों (=वस्तुओं)को

[1] प्र० वा० १।६८, ६६

लेकर जो एक अर्थ (=गायपन) जतलानेवाली (बुद्धि=ज्ञान पैदा होती है, जिस)के द्वारा उन (भावों)का (वास्तविक) रूप ढँक (=संवृत हो) जाता है, (इसलिए ऐसे ज्ञानको) **संवृति** (=वास्तविकताको ढाँकनेवाली) कहते हैं।

"ऐसी **संवृति**से (भावों=गायों....)का नानापन ढँक गया है, (इसीलिए) भाव (=गायें आपसमें) स्वयं भिन्नता रखते हुए (भी) किसी (कल्पित) रूपसे अभिन्नता रखनेवालेसे जान पड़ते हैं।

"उसी (संवृति या कल्पनावाली बुद्धि)के अभिप्रायको लेकर **सामान्यको** सत् कहा जाता है; क्योंकि परमार्थमें वह अ-सत् (और) उस (संवृति बुद्धि)के द्वारा कल्पित है।"[1]

गायपन एक वस्तु सत् है, जो सभी गाय-व्यक्तियोंमें है, यह ख्याल गलत है, क्योंकि—

"व्यक्तियाँ (भिन्न-भिन्न गायें एक दूसरेमें) अनुगत नहीं हैं, (और) न उन (भिन्न गाय व्यक्तियों)में (कोई) अनुगत होनेवाला (पदार्थ) दीख पड़ता है (; जो दीखती हैं, वह भिन्न-भिन्न गाय-व्यक्तियाँ हैं)। ज्ञानसे अभिन्न (यह सामान्य) कैसे (एकसे) दूसरे पदार्थको प्राप्त हो सकता है?

"इसलिए (अनेक) पदार्थोंमें एकरूपता (=सामान्य)का ग्रहण झूठी कल्पना है, इस (झूठी कल्पना)का मूल (व्यक्तियोंका) पारस्परिक भेद है, जिसके लिए (गोत्व आदि) संज्ञा (=शब्दका प्रयोग होता) है।"[2]

"यदि (संज्ञाओं शब्दों द्वारा पदार्थोंका) भेद (मालूम होता है, तो इतना ही तो शब्दोंका प्रयोजन है, फिर) वहाँ सामान्य या किसी दूसरी (चीजकी कल्पनासे) तुम्हें क्या (लेना) है?"[3]

वस्तुतः गायपन आदि सामान्यवाची शब्द विद्वानोंने व्यवहारके सुभीतेके लिए बनाए हैं।

[1] प्र० वा० १।७०-७२ [2] प्र० वा० १।७३-७४ [3] वहीं १।९९

"एक (तरहके) कार्य (करनेवाले) भावों (='वस्तुओं')में उनके कार्योंके जतलानेके लिए भेद करनेवाली संज्ञा (की जरूरत होती है, जैसे दूध तथा श्रम देना आदि क्रियाओंको करनेवाली गायोंमें उनके कार्यौंकि जतलानेके लिए भेद करनेवाली संज्ञाकी; किन्तु गाय-व्यक्तियोंके अनगिनत होनेसे हर व्यक्तिकी अलग-अलग संज्ञा रखनेपर नाम) बहुत बढ़ जाता, (वह) हो भी नहीं सकता था, और (प्रयास) फजूल भी होता, इसलिए (व्यवहार कुशल) वृद्धोंने उस (गायवाले) कार्यमें फर्क करनेके विचारसे एक शब्द (=गाय नाम) प्रयुक्त किया।"[1].

फिर प्रश्न होता है, सामान्य (=गायपन) जिसे नित्य कहते हो, वह एक-देशी है या सर्वव्यापी ? यदि कहो वह एकदेशी अर्थात् अपनेसे संबंध रखनेवाली गाय-व्यक्तिमें ही रहता है, तो—

"(एक गायमें स्थित सामान्य उस व्यक्तिके मरने तथा दूसरी गायके उत्पन्न होनेपर एकसे दूसरेमें) न जाता है, और न उस (व्यक्तिकी उत्पत्ति वाले देश)में (पहिलेसे) था (; क्योंकि वह सिर्फ व्यक्तियोंमें ही रहता है) और (व्यक्तिकी उत्पत्तिके)पीछे (तो जरूर) है, (क्योंकि सामान्यके बिना व्यक्ति हो नहीं सकती।); यदि (सामान्यको) अंशवाला (मानते हो, जिसमें कि उसका एक अंश=छोर पहिली व्यक्तिमें और दूसरा पीछे उत्पन्न होनेवाली व्यक्तिमें संबद्ध हो)। और (अंशरहित माननेपर यह नहीं कह सकते कि वह) पहिलेके (उत्पन्न होकर नष्ट होने) आधारको छोड़ता है (क्योंकि ऐसा माननेपर देश-कालके अन्तरको नित्य सामान्य जब पार करेगा, उस वक्त उसे व्यक्तिसे अलग भी मानना पड़ेगा, इस प्रकार बेचारे सामान्यवादीके लिए) मुसीबतोंका अन्त नहीं।

"दूसरी जगह वर्त्तमान (सामान्य)का अपने स्थानसे बिना हिले उस (पहिले स्थान)से दूसरे स्थानमें जन्मनेवाले (पिंड)में मौजूद होना युक्तियुक्त बात नहीं है।

[1] प्र० वा० १।१३९-१४०

सामनेसे गुजरता संकेतानुसार खास छाप हमारे मस्तिष्कपर छोड़ता जाता है, इन्हीं छापोंको मिलाकर मन कल्पना द्वारा सारे वाक्यका अर्थ तैयार करता है। उसी तरह हम गायकी सींग, गलकम्बल, पूँछको बारी-बारीसे देखते जो छाप छोडते हैं, उनके अनुसार गाय-अवयवीकी कल्पना करते हैं; किंतु जिस तरह सामान्य व्यक्तिसे भिन्न कोई वस्तु-सत् नहीं है, उसी तरह अवयवी भी वस्तुसे भिन्न कोई वस्तुसत् नहीं। यदि अवयवी वस्तुतः एक स्वतंत्र वास्तविक पदार्थ होता तो—

"हाथ आदि (मेंसे किसी एक)के कम्पनसे (शरीर)का कंपन होता, क्योंकि एक (ही अखंड अवयवी)में (कम्पन) कर्म (और उसके) विरोधी (अकंपन दोनों) नहीं रह सकते; ऐसा न होनेपर (कम्पनवालेसे अकम्पनवाला अवयवी) अलग सिद्ध होगा।"[1]

अवयवोंके योगसे अवयवी अलग वस्तु पैदा होती है, ऐसा माननेपर अवयवोंके योगके साथ अवयवीके भी मिल जानेसे अवय+अवयव+अवयव....=भार जितना होता है, अवयव+अवयव+अवय...+ अवयवी=भार बहुत ज्यादा होना चाहिए। क्योंकि (यदि अवयवोंके भार और उसके अनुसार तोलनेपर तराजूका) नीचे जाना होता है, तो (अवयवोंके साथ अवयवीके भी मिल जानेपर) तराजूका नीचे जाना (और अधिक) होना चाहिए।"[2]

"क्रमशः (सूक्ष्म अवयवोंको बढ़ाते हुए बहुत अवयवोंसे) युक्त धूलिकी राशिमें एक समय (अलग-अलग अवयवों और उनसे) युक्त (राशि)के भारमें भेद होना चाहिए, और इस (गौरवके) भेदके कारण (सोनेके या चाँदी-के छोटे-छोटे टुकड़ोंको) अलग-अलग तोलने तथा (उन टुकड़ोंको गलाकर एक पिंड बना) साथ (तोलने) पर सोनेके माषक (=मासा, रत्ती) आदि (में तोलनेकी) संख्यामें समानता नहीं होनी चाहिए।"[3]

[1] प्रा० वा० ३।२८४ [2] प्र० वा० ४।१५४

[3] प्र० वा० ४।१५७, १५८

एक मासा भर सोना अलग तोलनेपर भले ही एक मासा हो, किन्तु जब ९६ मासा सोनेको गलाकर एक डला तैयार किया गया तो उसमें ९६ मासेके ९६ टुकड़ोंके अतिरिक्त उसमें बना अवयवी भी आ मौजूद हुआ है, इसलिए अब वजन ९६ मासासे ज्यादा होना चाहिए।

(संख्या आदिका खंडन)—वैशेषिकने संख्या, संयोग, कर्म, विभाग, आदि गुणोंको वस्तुसत्के तौरपर माना है, जिन्हें कि धर्मकीर्ति व्यवहार (=संवृति)-सत् भर माननेके लिए तैयार हैं, और कहते हैं—

"संख्या, संयोग, कर्म, आदिका भी स्वरूप उसके रखनेवाले (द्रव्य) के स्वरूपसे (या) भेदके साथ कहनेसे बुद्धि (=ज्ञान) में नहीं भासित होता। (इसलिए भासित न होनेपर भी उन्हें वस्तुसत् मानना गलत है)।

"शब्दके ज्ञानमें (एक घट इस) कल्पित अर्थमें वस्तुओंके (पारस्परिक) भेदको अनुसरण करनेवाले विकल्पके द्वारा (संख्या आदिका प्रयोग उसी तरह किया जाता है), जैसे गुण आदिमें (=पानीमें 'एक बड़ी जाती है,' यहाँ एक भी गुण और बड़ी भी गुण, किन्तु गुणमें गुण नहीं हो सकनेसे एक संख्याके साथ बड़ा परिमाणका प्रयोग नहीं होना चाहिए) अथवा नष्ट या अबतक न पैदा हुओंमें ('एक, दो, बहुत मर गए) या पैदा होंगे'का कहना। निश्चय ही जो एक, दो ...संख्या मरे या न पैदा-हुए-जैसे आस्तीत्वशून्य आधारका आधेय—गुण—है, वह कल्पित छोड़ वास्तविक नहीं हो सकता।[1]"

(३) सांख्य दर्शनका खंडन—सांख्य-दर्शन चेतन और जड़ दो प्रकारके तत्वोंको मानता है। जिनमें चेतन—पुरुष—तो निष्क्रिय साक्षी मात्र है, हाँ उसके संपर्कसे जड़तत्त्व—प्रधान—सारे जगत्को अपने स्वरूप-परिवर्तन द्वारा बनाता है। सांख्य प्रधानमें भिन्नता नहीं मानता, और साथही सत्कार्यवाद—अर्थात् कार्यमें पहिलेसे ही पूर्वरूपेण कारणके मौजूद होने—को स्वीकार करता है। धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

---

[1] प्र० वा० २।१९२.

"अगर अनेक (=बीज, पानी, मिट्टी आदि) एक (**प्रधान=प्रकृति**) स्वरूप होते एक कार्य (अंकुर)को करते हैं, तो (वही) स्वरूप (=प्रधान) एक (बीज)में (वैसे ही है, जैसे कि वह दूसरी जगह); इसलिए (दूसरे) सहकारी (कारण पानी, मिट्टी आदि) फजूल है।

"(पानी, मिट्टी आदि सहकारी कारणोंके न होनेपर बीजके रहनेसे) वह (**प्रधान**—मौलिक भौतिक तत्त्व तो) अ-भिन्न—(है) और (वह पानी, मिट्टी आदि बन जानेपर भी अपने पहिले) स्वरूपको नहीं छोड़ता (क्योंकि वह नित्य है; और) विशेष (=पानी, मिट्टी आदि) नाशमान हैं (किंतु हम देखते हैं) एक (सहकारी जल या मिट्टी)के न होनेपर (भी) कार्य (=अंकुर) नहीं होता, इसमें (पता लगता है कि) वह (अंकुर, प्रधानसे नहीं बल्कि विशेषों (=पानी, मिट्टी आदि)से उत्पन्न होता है।

"परमार्थवाला भाव (=पदार्थ) वही है, जो कि अर्थक्रियाको कर सकता है। (ऐसे अर्थक्रिया करनेवाले हैं मिट्टी, पानी आदि विशेष) और वह (परस्पर भिन्न होनेसे कार्य=अंकुरमें) एक-रूप नहीं होते, और जिसे (तुम) एक रूप होता (कहते हो) उस (प्रधान)से (अंकुर-) कार्यका सम्भव नहीं (; क्योंकि सत्कार्यवादके अनुसार वह तो, जैसा अपने स्वरूपमें है, वैसा ही मिट्टी आदि बननेपर भी है)।

"(और प्रधानको हर हालतमें एक रूप माननेपर बीज, मिट्टी, पानी सभी प्रधान-मय और एक रूप हैं, फिर एक बीजके रहनेसे मिट्टी, पानी आदिके न होनेपर भी अंकुरकी उत्पत्तिमें कोई हर्ज नहीं होना चाहिए; किन्तु हम) यह स्वभाव (देखते हैं कि) उस (कारण-) स्वरूपसे (बीज, मिट्टी, पानी आदि के आपसमें) भिन्न होनेपर कोई (=बीज, मिट्टी, आदि अंकुरका) कारण होता है, दूसरे (आग, सुवर्ण आदि) नहीं; यदि (बीज, मिट्टी, आग, पानी आदि **विशेषों**का) अभेद होता, तो (अंकुरका आगसे) नाश (और बीज आदिसे) उत्पत्ति (दोनों) एक साथ होती।"[1]

[1] प्र० वा० १।१६६-१७०

"(जो अर्थक्रिया करनेवाला[1] है) उसीको कार्य और कारण कहते हैं, वही स्व-लक्षण (=वस्तुसत्) है; (और) उसीके त्याग और प्राप्तिके लिए पुरुषोंकी (नाना कार्योंमें) प्रवृत्ति होती है।

"जैसे (सांख्य-सम्मत मूल भौतिक तत्त्व, प्रधानकी सभी भौतिक तत्त्वों—मिट्टी, बीज, पानी आगमें) अभिन्नताके एक समान होनेपर भी सभी (बीज, पानी, आग....प्रधानमय तत्त्व) सभी (कार्यों—अंकुर, घड़ा आदि)के (करनेमें) साधन नहीं होते, वैसे ही, पर्वपर्व कारण (क्षणिक परमाणु या भौतिक तत्त्वोंकी) सभी उत्तर उत्तर कार्यों (मिट्टी, बीज, पानी, आग आदि)में भिन्नताके एक समान होनेपर भी सभी (कारण) सभी (कार्यों)के (करनेमें) साधन नहीं होते।

"(यही नहीं, सत्कार्यवादके विरुद्ध कारणसे कार्यको) भिन्न माननेपर (सब नहीं) कोई-कोई ही (वस्तुएँ) अपनी विशेषता (= धर्म)की वजहसे (किसी एक कार्यका) कारण हो सकती है। किन्तु (सत्कार्यवादके अनुसार कारणसे कार्यको) अभिन्न माननेपर (सभी वस्तुएँ अभिन्न हैं, फिर उनमेंसे) एकका (कहीं) क्रिया (=कार्य)कर सकना और (कहीं) न कर सकना (यह दो परस्पर-) विरोधी (बात) है।"[2]

इस प्रकार साख्यका सत्कार्यवाद—मूलतः विश्व और विश्वकी वस्तुएँ कारणसे कार्य अवस्थामें कोई भेद नहीं रखती (प्रधान=पानी, प्रधान= आग, प्रधान=चीनी, प्रधान=मिर्च)—गलत है; और बौद्धोंका असत्-कार्यवाद ही ठीक है, जिसके अनुसार कि—कारण एक नहीं अनेक है, और हर कार्य अपने कारणसे बिलकुल भिन्न चीज, यद्यपि हर नया उत्पन्न होनेवाला कार्य अपने कारणसे सादृश्य रखता है, जिससे 'यह वही है' का

[1] अर्थक्रियाकारी=अर्थक्रिया-समर्थ-कार्यके उत्पादनमें समर्थ, क्रियाके उत्पादनमें समर्थ, सार्थक क्रिया करनेमें समर्थ, सफल क्रिया करनेमें समर्थ, क्रिया करनेमें योग्य, क्रिया कर सकनेवाला—आदि इसके अर्थ हैं।

[2] प्र० वा० १।१७५-१७७

भ्रम होता है ।

(४) **मीमांसाका खंडन**—मीमांसाके सिद्धान्तोंके बारेमें हम पहिले लिख चुके हैं। मीमांसाका कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण सामने उपस्थित पदार्थ भी वस्तुतः क्या है इसे नहीं बतला सकते, और परलोक, स्वर्ग, नर्क, आत्मा आदि जो पदार्थ इन्द्रिय-अगोचर हैं, उनका ज्ञान करानेमें तो वे बिलकुल असमर्थ है; इसलिए उनका सबसे ज्यादा जोर शब्द-प्रमाण—वेद—पर है, जिसे कि वह अ-पौरुषेय किसी पुरुष (=मनुष्य, देवता या ईश्वर) द्वारा नहीं बनाया अर्थात् अकृत सनातन मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष, तथा अंशतः प्रत्यक्ष अर्थात् अनुमानके सिवा किसी तीसरे प्रमाणको नहीं मानते, और प्रत्यक्ष-अनुमानकी कसौटीपर कसनेमें वेद उसके हिंसामय यज्ञ—कर्मकांड आदि ही नहीं बहुतसी दूसरी गप्पें और पुरोहितोंकी दक्षिणाके लोभसे बनाई बातें गलत साबित होतीं; ऐसी अवस्थामें सभी धर्मानुयायियोंकी भाँति वैदिक पुरोहितोंके लिए मीमांसा जैसे शास्त्रकी रचना करके शब्दप्रमाणको ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण सिद्ध करना जरूरी था। बुद्धसे लेकर नागार्जुन तक ब्राह्मण-पुरोहितोंके जबर्दस्त हथियार वेदके कर्मकांड और ज्ञानकांडपर भारी प्रहार हो रहा था। युक्तिके सहारे ज्ञानकांडके बचानेकी कोशिश अक्षपाद और उनके भाष्यकार वात्स्यायनने की, जिनपर दिग्नागके कर्कश तर्क-शरोंका प्रहार हुआ, जिससे बचानेकी कोशिश पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाज (५०० ई०)ने की, किन्तु धर्मकीर्त्तिने उद्योतकरकी ऐसी गति बनाई कि वाचस्पति मिश्रको "उद्योतकरकी बूढ़ी गायोंके उद्धार"के लिए कमर बाँधनी पड़ी।

किन्तु युक्तिवादियों (=तार्किकों)की सहायतासे वैदिक ज्ञान—और कर्म-कांडके ठीकेदारोंका काम नहीं चल सकता था, इसलिए बादरायणको ज्ञानकांड (=ब्रह्मवाद) और जैमिनिको कर्मकांडपर कलम उठानी पड़ी। उनके भाष्यकार शबर असंगके विज्ञानवादसे परिचित थे। दिग्नागने अक्षपाद और वात्स्यायनकी भाँति शबर और जैमिनिपर भी जबर्दस्त चोट की; जिसपर नैयायिक उद्योतकरकी भाँति मीमांसक कुमारिल भट्ट मैदानमें आए।

धर्मकीर्त्ति उद्योतकरपर जिस तरह प्रहार करते हैं, उससे भी निष्ठुर प्रहार उनका कुमारिलपर है। वेद-प्रमाणके अतिरिक्त मीमांसक प्रत्यभिज्ञाको भी एक जबर्दस्त प्रमाण मानते हैं, हम इन्हीं दोनोंके बारेमें धर्मकीर्त्तिके विचारोंको लिखेंगे।

(क) प्रत्यभिज्ञा-खंडन—पदार्थ (=राम)को सामने देखकर "यह वही (राम) है" ऐसी **प्रत्यभिज्ञा** (=प्रामाणिक स्मृति) स्पष्ट मालूम होनेवाली (=स्पष्टावभास) प्रत्यक्ष प्रमाण है,—मीमांसकोंकी यह प्रत्यभिज्ञा है। बौद्ध इस प्रत्यभिज्ञाको "यह वही"की कल्पनापर आश्रित होनेसे प्रत्यक्ष नहीं मानते और 'स्पष्ट मालूम होनेवाली' के बारेमें धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

"(काटनेपर फिरसे जमे) केशों, (मदारीके नये-नये निकाले) गोलों, तथा (क्षण-क्षण नष्ट हो नई उत्पन्न) दीपों. . . .में भी ('यह वही है' यह) स्पष्ट भासित होता है (; किन्तु क्या उससे यह कहना सही होगा कि केश—गोला—दीप वही है?)।

"जब भेद (प्रत्यक्षतः) ज्ञात है, (तो भी) वैसा (=एक होनेके **भ्रमवाला** अभेद-) ज्ञान कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है? इसलिए प्रत्यभिज्ञाके ज्ञानसे (केश आदिकी) एकताका निश्चय ठीक नहीं है।"[1]

(ख) शब्दप्रमाण-खंडन—यथार्थ ज्ञानको प्रमाण कहा जाता है, शब्दप्रमाणको माननेवाले कपिल, कणाद, अक्षपाद प्रत्यक्ष अनुमानके अतिरिक्त यथार्थवक्ता (=आप्त) पुरुषके वचन (=शब्दको) भी प्रमाण मानते हैं। मीमांसक "कौन पुरुष यथार्थवक्ता है" इसे जानना असंभव समझते हुए कहते हैं—

(a) **अपौरुषेयता फजूल**—"यह (पुरुष) ऐसा (=यथार्थवक्ता) है या नहीं है, इस प्रकार (निश्चयात्मक) प्रमाणोंके दुर्लभ होनेसे (किसी) दूसरे (पुरुष)के दोषयुक्त (=झूठे) या निर्दोष (=सच्चे, यथार्थवक्ता)

[1] प्र० वा० ३।५०३-५०५

होनेको जानना अतिकठिन है।"[1]

और फिर—

"(किन्हीं) वचनोंके झूठे होनेके हेतु (ये अज्ञान, राग, द्वेष आदि) दोष पुरुषमें रहनेवाले हैं, (इसलिए पुरुषवाले=पौरुषेय वचन झूठे होते हैं, और) अ-पौरुषेय सत्यार्थ....।"[2]

इसके उत्तरमे धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

"(किन्हीं) वचनोंके सत्य होनेके हेतु (ज्ञान, अराग, अ-द्वेष आदि) गुण पुरुषमें रहनेवाले हैं, (इसलिए जो वचन पुरुषके नहीं हैं, वह सत्य कैसे हो सकते हैं, और जो) पौरुषेय (हैं, वही) सत्यार्थ (हो सकते हैं)।....[3]

"(साथ ही शब्दके) अर्थको समझानेका साधन है (गाय शब्दका अर्थ 'सींग-पूँछ-गलकम्बलवाला पिंड' ऐसा) संकेत (और वह संकेत) पुरुषके ही आश्रयसे रहना (पौरुषेय) है। इस (संकेतके पौरुषेय होने) से वचनोंके अपौरुषेय होनेपर भी उनके झूठे होनेका दोष सम्भव है।

"यदि (कहो शब्द और अर्थका) संबंध अ-पौरुषेय है, तो (आग और आँचके संबंधकी भाँति उसके स्वाभाविक होनेसे संकेतसे) अजान पुरुषको भी (सारे वेदार्थका) ज्ञान होना चाहिए। यदि (पौरुषेय) संकेतसे वह (संबंध) प्रकट होता है, तो (संकेतसे भिन्न कोई) दूसरी कल्पना (संबंधको व्यवस्थापित) नहीं कर सकती।

"यदि (वस्तुतः) वचनोंका एक अर्थमें नियत होना (प्रकृति-सिद्ध) होता, तो (एक वचनका एक छोड़) दूसरे अर्थमें प्रयोग न होता।

"यदि (कहो—एक वचनका) अनेकों अर्थों (=पदार्थों) से (वाच्य-वाचक) संबंध (स्वाभाविक) है; तो (एक ही वचनसे) विरुद्ध (अर्थों-की) सूचना होगी, (फिर 'अग्निष्टोम याग स्वर्गका साधन है' इस वचनका अर्थ 'अग्निष्टोम याग नरकका साधन है' भी हो सकता है।[4]

[1] प्र० वा० १।२२२ [2] वहीं १।२२७
[3] वहीं १।२२७,२२८ [4] वहीं १।२२७-२३१

जैसे भी हो वेदको पुरुषरचित न माननेपर भी पिंड नहीं छूटता, क्योंकि, "(शब्द-अर्थके संबंधको) पुरुष(-संकेत) द्वारा न-संस्कार्य (=न प्रकट होनेवाला माननेपर वचनोंकी ही) बिलकुल निरर्थकता होगी; (क्योंकि शब्दार्थ-संबंधके संकेतको सभी लोग गुरु-शिष्य संबंधसे ही जानते हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता)। यदि (पुरुष द्वारा) संस्कार (होने)को स्वीकार करते हो तो यह ठीक गजस्नान हुआ (—वेद-वचन और उसके शब्दार्थ-संबंधको तो पौरुषेय नहीं माना, किन्तु शब्दार्थ-संबंधके संकेतको पुरुष द्वारा ही संस्कार्य मानकर फिर वचनमें मिलनेवाले ज्ञानके सच-झूठ होनेमें सन्देह पैदा कर दिया)।"[1]

और वस्तुतः वेदको जैमिनि जिस तरह अपौरुषेय सिद्ध करना चाहते हैं, वह बिलकुल गलत है।—

"('चूँकि वेद-वचनोंके) कर्त्ता (पुरुष) याद नहीं इसलिए (वह) अपौरुषेय है'—ऐसे भी (ढीठ) बोलनेवाले हैं! धिक्कार है (जगत्में) छाये (इस जड़ताके) अन्धकारको!!"[2]

अपौरुषेयता सिद्ध करनेके लिए "कोई (कहता है—) 'जैसे यह (आगेका विद्यार्थी) दूसरे (पुरुष—अपने गुरु—से) बिना सुने इस वर्ण (=अक्षर) और पद(के) क्रम (वाले वेद)को नहीं बोल सकता, वैसे ही कोई दूसरा पुरुष (=गुरु) भी (अपने गुरु और वह अपने गुरु....से सुने बिना नहीं बोल सकता; और इस प्रकार गुरुओंकी परम्पराका अन्त न होनेसे वेद अनादि, अपौरुषेय सिद्ध होता है।)"[3]

(किन्तु ऐसा कहनेवाला भूल जाता है—"(वेदसे भिन्न) दूसरे (पुरुषके) रचित (रघुवंश आदि) ग्रंथ भी (गुरु-शिष्यके) संप्रदायके बिना (पढ़ा) जाता नहीं देखा गया, फिर इससे तो वह (=रघुवंश) (वेदकी) तरह (अनादि) अनुमान किया जायेगा।"[4]

[1] प्र० वा० १।२३३ [2] वहीं १।२४२, २४३
[3] वहीं १।२४२, २४३ [4] वहीं १।२४३, २४४

गुरु-शिष्य, पिता-पुत्रके संबंधमे हर एक तरहकी बात मनुष्य सीखता है, और इसीसे मीमांसक वेदको अनादि सिद्ध करते हैं, फिर "वैसा तो म्लेच्छ आदि (अ-भारतीय जातियों) के व्यवहार (अपनी माँ और बेटीसे ब्याह आदि) तथा नास्तिकोंके वचन (ग्रंथ) भी अनादि (मानने पड़ेंगे। और) अनादि होनेसे (उन्हें भी वेद) जैसे ही स्वतःप्रमाण मानना होगा।"[1]

"फिर इस तरहके अपौरुषेयत्वके सिद्ध होनेपर भी (जैमिनि और कुमारिलको) कौनसा फायदा होगा(; क्योंकि इससे तो सब धान बाईस-पंसेरी हो जावेगा)।"[2]

(b) अपौरुषेयताकी आड़में कुछ पुरुषोंका महत्त्व बढ़ाना— वस्तुतः एक दूसरे ही भावमें प्रेरित होकर जैमिनि-कुमारिल एंड-कोने अपौरुषेयताका नारा बुलंद किया है—

"(इस वेद-वचनका) 'यह अर्थ है, यह अर्थ नहीं है' यह (वेदके) शब्द (खुद) नहीं कहते। (शब्दका) यह अर्थ तो पुरुष कल्पित करते हैं, और वे रागादि-युक्त होते है। (उन्ही रागादिमान् पुरुषोंके बीच जैमिनि वेदार्थका तत्त्ववेत्ता है! फिर प्रश्न होता है—) वह एक (जैमिनि.... ही) तत्त्ववेत्ता है, दूसरा नही, यह भेद क्यों? उस (=जैमिनि)की भाँति पुरुषत्व होते भी किसी तरह किसी (दूसरेको) ज्ञानी तुम क्यों नहीं मानते?"[3]

(c) अपौरुषेयतासे वेदके अर्थका अनर्थ—आप कहते है, चूँकि "(पुरुष) स्वयं रागादिवाला (है, इसलिए) वेदके अर्थको नही जानता, और (उसी कारण वह) दूसरे (पुरुष)से भी नही (जाना जा सकता; बेचारा) वेद (स्वयं तो अपने अर्थको) जतलाता नहीं, (फिर) वेदार्थकी क्या गति होगी? इस (गड़बड़ी)से तो 'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे' इस श्रुतिका अर्थ 'कुत्तेका मांस भक्षण करे' नहीं है इसमे क्या प्रमाण है?

[1] प्र० वा० १।२४८, २४९ [2] वहीं १।२४९ [3] वहीं १।३१६

"यदि (कहो,) लोगोंमें ज्ञात प्रसिद्ध है (जिससे इस तरहका अर्थ नहीं हो सकता), तो (सवाल होगा, सभी लोग तो रागादिवाले हैं) उनमें कौन (स्वर्ग जैसे) अतीन्द्रिय पदार्थका देखनेवाला है, जिसने कि अनेक-अर्थवाले शब्दोंमें 'यही अर्थ है' इसका निश्चय किया है ?

"स्वर्ग, उर्वशी आदि (कितने ही वैदिक) शब्दोंका (वेदज्ञ होनेका दावा करनेवाले मीमांसकों द्वारा किया गया लोक-)रूढ़िसे भिन्न अर्थ भी देखा जाता है (, जैसे स्वर्गका लोकसम्मत अर्थ है—मनुष्यसे बहुत ऊँचे दर्जेके विशेष पुरुषोंका वासस्थान, जहाँ अत्यधिक सुख तथा उसके नाना साधन सदा सुलभ हैं; उसके विरुद्ध मीमांसक कहते हैं, कि वह दुःखसे सर्वथा रहित सर्वोत्कृष्ट सुखका नाम है। उर्वशीका लोक-सम्मत अर्थ है, स्वर्गकी अप्सरा, किन्तु उसके विरुद्ध मीमांसक वेदज्ञ उसे अरणि या पात्री (नामक यज्ञपात्रों)का पर्याय बतलाते हैं)। फिर उसी तरह 'जहुयात्'का अर्थ 'कुत्ता-मांस खाओ'। सभी तरहके अर्थ लग सकनेवाले दूसरे शब्दों ('अग्निहोत्र जुहुयात्')में वैसे ही ('कुत्ता-मांस खाओ' इस अर्थकी) कल्पना (भी) मानो।"[1]

अपौरुषेयताका नारा पुरोहितोंकी वैसी ही परवंचना मात्र है, जैसे कि राजगृहका मार्ग पूछनेपर "कोई कहे 'यह ठूँठ कहता है कि यह मार्ग है', और दूसरा (पुरुष कहे 'यह मार्ग है' उसे) मैं स्वयं कहता हूँ। (अब आप) इन दोनोंकी (वंचना और सच्चाईकी स्वयं) परीक्षा कर सकते हैं।"[2]

(४) वेदकी एक बात सच होनेसे सारा वेद सच नहीं— वेदका एक वाक्य है "अग्निर्हिमस्य भेषजं" (=आग सर्दीकी दवा है), इसे लेकर मीमांसक कहते हैं—"चूँकि 'अग्निर्हिमस्य भेषजं' यह वाक्य बिलकुल सत्य (=प्रत्यक्ष-सिद्ध) है, (उसी तरह 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'—स्वर्गचाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे, इस) दूसरे वचनको भी (उसी) वेदका एक अंश होनेसे (प्रमाण मानना चाहिए।)"[3]

[1] प्र० वा० १।३२०-३२३ [2] वहीं १।३२८ [3] वहीं १।३३३

इसके उत्तरके बारेमें इतना ही कहना है—

"यदि इस तरह (एक बातकी सच्चाईसे) प्रमाण सिद्ध होता, तो फिर यहाँ अ-प्रमाण क्या है? बहुभाषी (झूठे) पुरुषकी एक बात भी सच्ची न हो, यह (तो है) नहीं।"[1]

(e) **शब्द कभी प्रमाण नहीं हो सकता**—"जो अर्थ (प्रत्यक्ष या अनुमानसे) सिद्ध हैं, उन (के साधन)में वेद (शास्त्र)के त्याग देनेसे (कोई) क्षति नहीं; और जो परोक्ष (=इन्द्रिय-अगोचर पदार्थ हैं), वह अभी साबित ही नहीं हो सके हैं, अतः उन)में वेद (=आगम)का (उपयोग) ही ठीक नहीं हो सकता, अत (वहाँ इसका) ख्याल ही नहीं हो सकता (इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्ष दोनों बातोंमें वेद या शब्दप्रमाण की गुंजाइश नहीं।)"[2]

"किसने यह व्यवस्था (=कानून) बनाई कि 'सभी (बातों)के बारेमें विचार करते वक्त शास्त्र (=वेद)को लेना चाहिए, (और) (वेदके) सिद्धांतको न जाननेवालेको धुआँ देख आग (होने की बात) न ग्रहण करनी चाहिए।'

"(वेदके फंदेसे) रहित (वेद-वचनोंके) गुण या दोषको न जाननेवाले सहज प्राणी (=सीधे-सादे आदमीके मत्थे वेद आदिकी प्रमाणता रूपी) ये सिद्धांत विकट पिशाच किसने थोपे?"[3]

अन्तमें धर्मकीर्त्तिने मीमांसकोंके प्रत्यक्ष, अनुमान जैसे प्रमाणोंको छोड़ "अपौरुषेय वेद"के वचनपर आँख मूँदकर विश्वास करनेकी बातपर जोर देनेका जबर्दस्त खंडन एक दृष्टान्त देकर किया—कोई दुराचारिणी (स्त्री) परपुरुषके समागमके समय देखी गई, और जब पतिने उसे डाँटा, तो उसने पासकी स्त्रियोंको संबोधन करके कहा,—'देखती हो बहिनो! मेरे पतिकी बेवकूफीको? मेरी जैसी धर्मपत्नीके वचन (=शब्द-प्रमाण)पर विश्वास न कर वह अपनी आँखोंके दो बुलबुलों (=प्रत्यक्ष और अनु-

[1] प्र० वा० १।३३८ [2] वहीं ४।१०६ [3] वहीं १।५३,५४

मान)पर विश्वास करना है' ।"[1]

(५) **अ-हेतुवाद खंडन**—कितने ही ईश्वरवादी और सन्देहवादी दार्शनिक विश्वमें कार्य-कारण-नियम या हेतुवादको नही मानते । इस्लामिक दार्शनिकोंमें अश-अरीने कार्य-कारण नियमको ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्तामें भारी बाधा समझा, और इसे एक तरह भौतिकवादकी छिपी हिमायत समझ, बतलाया कि चीजोंके पैदा होनेमे कोई कारण पहिलेसे उपस्थित नहीं; अल्ला मियां हर वस्तुको हर वक्त बिलकुल नई—असत्से सत्के रूपमें—बनाते हैं। अशअरीके अतिरिक्त कुछ सन्देहवादी आधुनिक और प्राचीन दार्शनिक भी है, जो विश्वकी वस्तुओंकी रचनामे किसी प्रकारके कार्य-कारण नियमको नही मानते । वह कहते है, चीज न किसी कारणसे बनती हैं, और न तुरन्त नष्ट हुए अपने पूर्वगामीके स्वभाव आदिमें सदृश उत्पत्ति होनेके किसी नियमका अनुसरण करती है । वह कहते हैं—

"(जैसे) काँटे आदिमे तीक्ष्णता आदिका (कोई) कारण नही, उसी तरह (जगत्में) यह सब कुछ विना कारण (अ-हेतुक) है ।"[2]

धर्मकीर्त्ति उत्तर देते है—

"जिसके (पहिले) होनेपर जो (बादमें) जन्मे, अथवा (जिसके) विकारसे (जिसको) विकार हो, वह उसका कारण कहा जाता है, और वह इन (काँटों)मे भी है ।"[3]

हर उत्पन्न होनेवाली चीजको बिलकुल नई बौद्ध दार्शनिक भी मानते हैं, किन्तु वह उन्हे क्षण-विनाशी बिन्दुओंके प्रवाहका एक बिन्दु मानते हैं, और इस प्रकार कोई वस्तु-बिन्दु ऐसा नही, जिसका पूर्व- और पश्चाद्-गामी बिन्दु

---

[1] **प्रमाणवार्त्तिक-स्ववृत्ति १।३३७ "सा स्वामिना 'परेण संगता स्वमि'त्युपालब्धाऽऽह—'पश्यत पुंसो वैपरीत्यं धर्मपत्न्यां प्रत्ययमकृत्वा स्वनेत्रबुद्बुदयोः प्रत्येति' ।"**

[2] **प्र० वा० २।१८०-१८१** [3] **वहीं २।१८१-१८२**

न हो। यही पूर्वगामी विन्दु कारण है और पश्चाद्गामी अपने पूर्वगामी विन्दुके स्वभावसे सादृश्य रखता है; यदि यह नियम न होता, तो आम-खानेवाला आमकी गुठली रोपनेके लिए ज्यादा ध्यान न देता। एक भाव (=वस्तु)के होनेपर ही दूसरे भावका होना, तथा हर एक वस्तुकी अपने पूर्वगामीके सदृश उत्पत्ति, यह हेतुवादको साबित करता है। जबतक विश्वमें सर्वत्र देखा जानेवाला यह उत्पत्ति-प्रवाह और सदृश-उत्पत्तिका नियम विद्यमान है, तबतक अहेतुवाद बिलकुल गलत माना जायेगा।

(६) जैन अनेकान्तवादका खंडन—जैन-दर्शनके स्याद्वाद या अनेकान्तवादका जिक्र हम कर चुके हैं। इस वादके अनुसार घड़ा घड़ा भी है और कपड़ा भी, उसी तरह कपड़ा कपड़ा भी है और घड़ा भी। इसपर धर्मकीर्त्तिका आक्षेप है—

"यदि सब वस्तु (अपना और अन्य) दोनों रूप हैं, तो (दही दही ही है, ऊँट नहीं, अथवा ऊँट ऊँट ही है दही नहीं, इस तरह दहीमें) उसकी विशेषताको इन्कार करनेसे (किसीको) 'दही खा' कहनेपर (वह) क्यों ऊँटपर नहीं दौड़ता ? (—आखिर ऊँटमें भी दही वैसे ही मौजूद है, जैसे दही में)।

"यदि (कहो, दहीमें) कुछ विशेषता है, जिस विशेषताके साथ (दही वर्तमान है, ऊँट नहीं; तब तो) वही विशेषता अन्यत्र भी है, यह (बात) नहीं रही, और इसीलिए (सब वस्तु) दोनों रूप नहीं (बल्कि अपना ही अपना है, और) पर ही (पर है)।"[१]

धर्मकीर्त्तिके दर्शनके इस संक्षिप्त विवरणको उनकेही एक पद्यके साथ हम समाप्त करते हैं—

"वेद (=ग्रंथ)की प्रमाणता, किसी (ईश्वर)का (सृष्टि-)कर्तापन (=कर्तृवाद), स्नान (करने)में धर्म(होने)की इच्छा रखना, जातिवाद (=छोटी बड़ी जाति-पाँत)का घमंड, और पाप दूर करनेके लिए

[१] प्र० वा० ३।१८०-१८२

(शरीरको) सन्ताप देना (=उपवास तथा शारीरिक तपस्याएं करना)—ये पाँच हैं, अकल-मारे (लोगों)की मूर्खता (=जडता)की निशानियाँ।"[1]

[1] प्रमाणवार्त्तिक-स्ववृत्ति १।३४२—
"वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारंभः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिंगानि जाड्ये॥"